9726

जैन भारती

वर्ष 50 • अंक 6 • जून, 2002

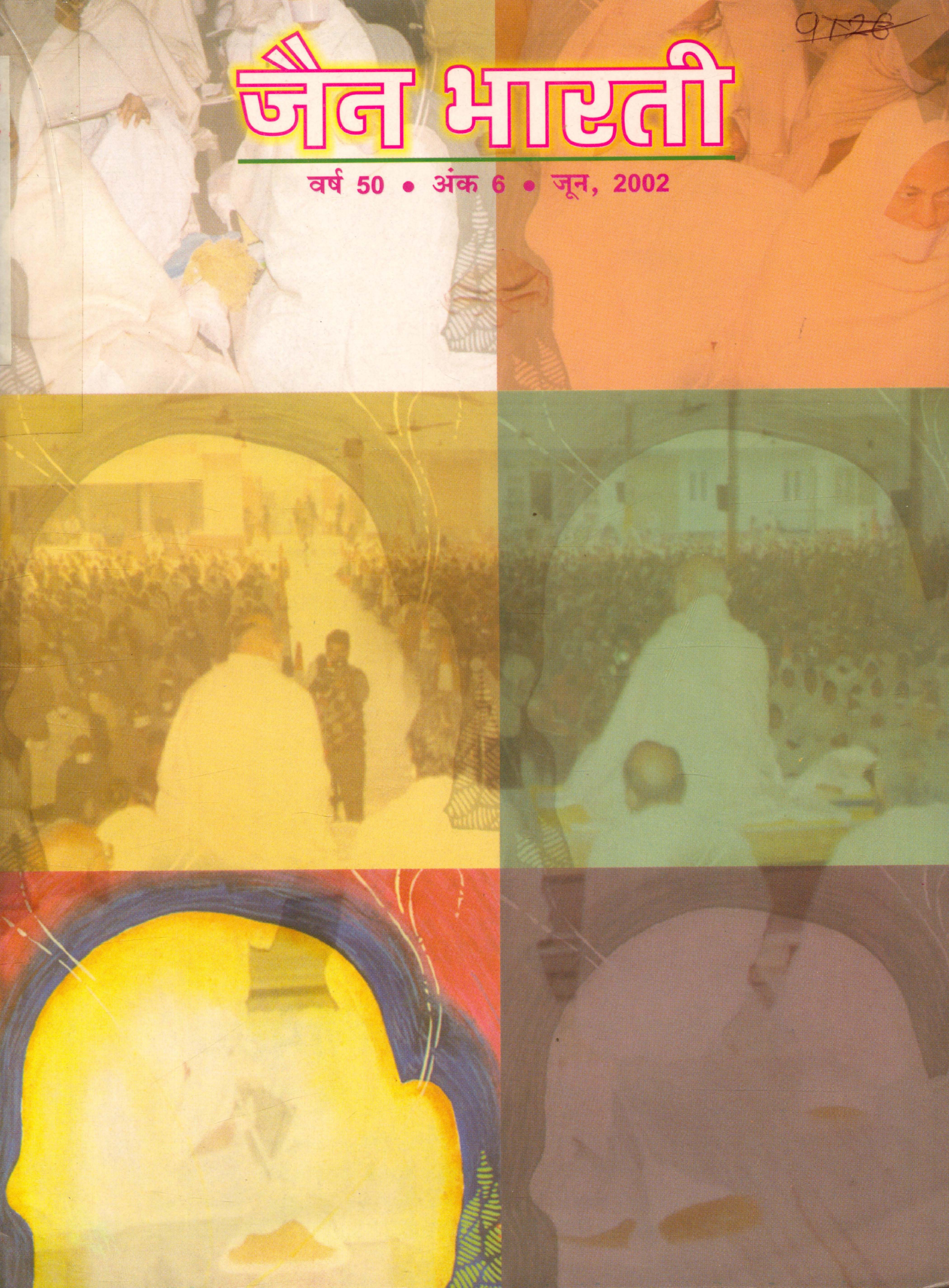

हार्दिक शुभकामनाओं सहित :

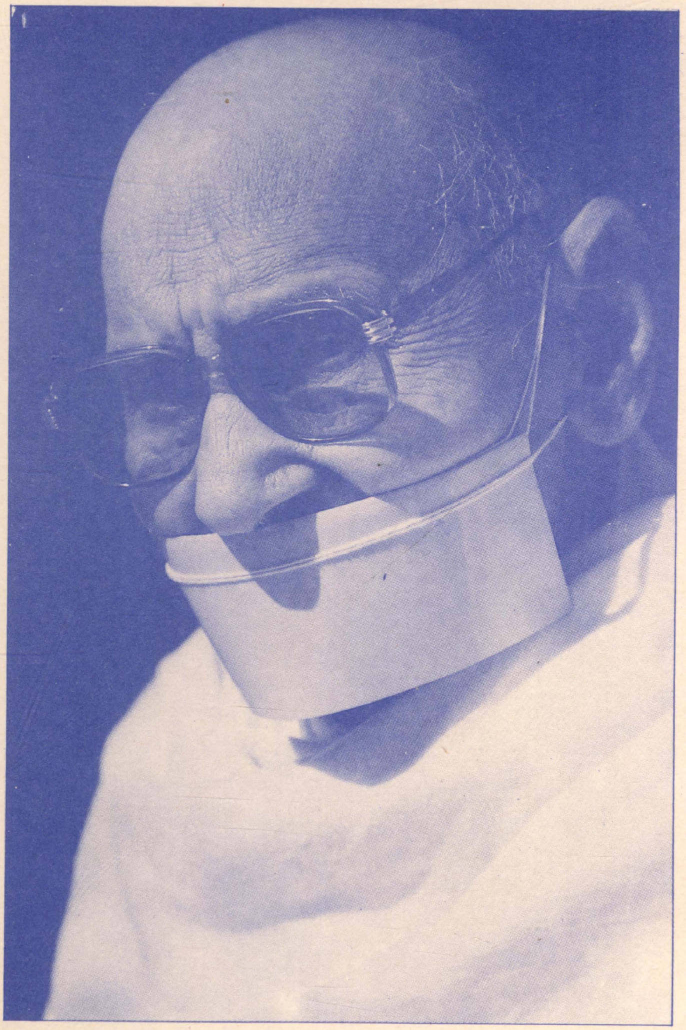

हेमराज शामसुखा

विनीत टेक्सफैब लिमिटेड

101, मामुलपेट, बंगलौर 560053

फोन : 2872355, 2871754

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बचछराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

जून, 2002 • वर्ष 50 • **स्वर्ण जयंती वर्ष** • अंक 6 • रु. 15.00

विमर्श

9
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
भारतीय दर्शन : समन्वय का स्वर

13
मुनि महेंद्रकुमार
उपवास :
आवेगमुक्त शरीर का आधार

22
डॉ. पारसमणि खीचा
लेश्या : मनोवैज्ञानिक विवेचना

•
आवरण
अडिग/निषाद/खेराज

अनुभूति

27
चतरसिंह मेहता
आनंद :
भीतर के स्वरूप की पहचान

31
समणी हिमप्रज्ञा
मनस्वी व्यक्तित्व
सागर-सी गहराई : पर्वत-सी ऊंचाई

34
मुनि रमेशकुमार
परिवार :
पर्यावरण संरक्षण की प्रथम इकाई

37
कहानी
रमेशचन्द्र शाह
मॉर्निंग विज्डम

42
कविता
संजीव मिश्र की कविताएं

प्रसंग

5
शुभू पटवा
धर्म का मर्म

शीलन

45
हरेंद्र सी. रावल ❑ प्रतीक्षा एच. रावल
आकाश एक : सूरज तीन-तीन

47
भवानी सोलंकी
जरूरत है अध्यात्म के अंकुश की

50
बालकथा
यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'
ईश्वर का बेटा

56
जैन भारती पाठक पहेली

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर • फोन : 270305, 202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 125/- रुपये • त्रैवार्षिक 350/- रुपये • दसवर्षीय 1000/- रुपये

जब प्रतीक अपना स्वभाव छोड़ देता है और एक धर्म—मतवाद बन जाता है तो उससे अनिष्ठा का, अविश्वास का जन्म होता है। निरतिशय या पूर्ण सत्य अपनी संपूर्ण संभव अभिव्यक्तियों से परे है। अभिव्यक्तियां सीमित हैं, जैसा कि उनकी विशेषताएं एवं विविधताएं प्रकट करती हैं। सत्य की प्रत्येक अभिव्यक्ति केवल आपेक्षिक है, वह अन्य सब मूल्यों को हटाकर एकमात्र मूल्य नहीं बन सकती। वह जिसे व्यक्त करती है उसकी एकमात्र अभिव्यक्ति वही है, यह दावा नहीं कर सकती। कोई विशिष्ट रूप स्वभावतः सीमित होता है और कुछ-न-कुछ अपनी सीमा के बाहर छोड़ देता है।

जिन्होंने एक विशिष्ट प्रणाली को ग्रहण कर लिया है और जो निराकार, अरूप सत्य तक नहीं पहुंच पाए हैं वे प्रायः अपने सापेक्ष सत्य को ही पूर्ण सत्य समझ बैठते हैं और शाश्वत सत्यों को ऐतिहासिक तथ्यों से मिलाकर भ्रम उत्पन्न कर देते हैं। विभिन्न धर्म विविध भाषाओं के समान हैं जिनमें परमात्मा ने मनुष्य से बात की है।

——डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन्

दया शब्द दो भावनाओं का प्रतिनिधित्व करता है। एक भावना सामाजिक है और दूसरी धार्मिक। समर्थ व्यक्ति असमर्थ व्यक्ति के कष्टों से द्रवित हो उठता है, यह दीन के प्रति उत्कृष्ट की सहानुभूति है। इस भावना की अभिव्यक्ति दया शब्द से होती है। एक व्यक्ति समर्थ या असमर्थ सभी जीवों को कष्ट देने का प्रसंग आते ही द्रवित हो जाता है, यह एक आत्मा की शेष सब आत्माओं के प्रति समता की अनुभूति है। इस भावना की अभिव्यक्ति भी दया शब्द से होती है, इसलिए यह कहना उचित है कि दया शब्द दो भावनाओं का प्रतिनिधि है। द्रवित होने के बाद दो कार्य हैं—कष्ट न देना और कष्टों का निवारण करना। कष्ट न देना यह सर्वसम्मत है और कष्टों का निवारण करना—इसमें कई प्रश्न उपस्थित होते हैं। सब दया-दया पुकारते हैं। दया-धर्म सही है, पर मुक्ति उन्हीं को मिलेगी जो उसे पहचानकर उसका पालन करेंगे।

'भिक्षु विचार दर्शन' से

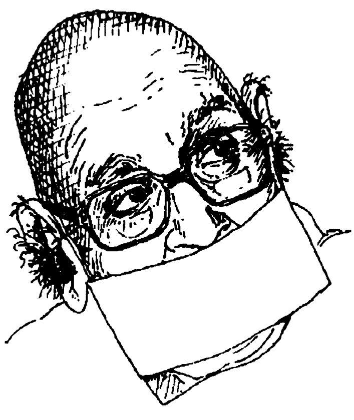

पुण्य स्मरण : विनम्र नमन

आषाढ़ कृष्णा तृतीया : 27 जून

एक समय था, व्यापारी वर्ग की साख थी। वह—'जाए लाख और रहे साख'—इस आदर्श की सुरक्षा के लिए कटिबद्ध था। समय के घात-प्रतिघातों ने मनुष्य को दुर्बल एवं विवश बना दिया। उसकी प्रतिरोधात्मक शक्ति क्षीण हो गई। राज्य कर्मचारियों की छवि मूलतः ही उजली कम होती है। श्रमिकों का शोषण होता है तो वे विद्रोही बन जाते हैं। विद्रोह को कुचला जाता देखकर वे भी अनीति के अंधे गलियारों में घुस जाते हैं। एक बहुत ही सभ्य और सुसंस्कृत वर्ग है—शिक्षक वर्ग। शिक्षक राष्ट्र का जिम्मेवार वर्ग है। देश की भावी पीढ़ी के निर्माण का महान दायित्व इसी वर्ग पर रहता है। यह वर्ग भी युग के प्रवाह में बहकर चारित्रिक मूल्यों की उपेक्षा करेगा तो उनकी प्रतिष्ठा कौन करेगा?

—आचार्यश्री तुलसी

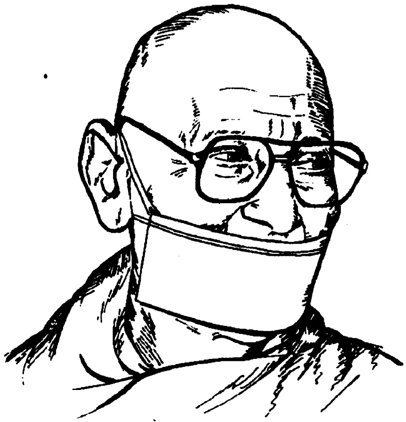

हमारा मन बहुत दौड़ता है। जो व्यक्ति इस सचाई को समझ लेता है कि मन के साथ कब किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए—कब मन को दौड़ने के लिए स्थान देना चाहिए और कब मन को बांधकर पिंजड़े में डाल देना चाहिए, कब मुक्त करना चाहिए और कब उसे जकड़ देना चाहिए—वह वर्तमान के साथ मैत्री स्थापित करता है। मन के साथ-साथ चलने वाला कभी सफल नहीं हो सकता। जो मन के साथ नहीं चलता किंतु मन की गति पर जब-जैसी जरूरत हो वैसा नियंत्रण स्थापित करता है, वह व्यक्ति जीवन में सफल हो सकता है। मन उसी व्यक्ति को सताता है, जो अतीत की यात्रा करता है। जो वर्तमान की यात्रा पर रहता है—मन उसे नहीं सताता। जो व्यक्ति मन की हर मांग को पूरा नहीं करता, किंतु मन की मांग की उपेक्षा करता है—वह वर्तमान को पकड़ लेता है, मन पर नियंत्रण का सूत्र हस्तगत कर लेता है।

मन को प्रशिक्षित करने का महत्त्वपूर्ण सूत्र है—प्रेक्षा का अभ्यास। मन को देखने का अभ्यास करना चाहिए। मन सोचना तो बहुत जानता है। उसे यही सिखाया गया है। वह निरंतर सोचने में लगा रहता है। हमें उसे इस दिशा में प्रशिक्षित करना है कि वह देख सके। मन में देखने की शक्ति भी है। सोचना और विचारना—यह मन की सतही अवस्था है। देखने में बहुत गहराई होती है। जब मन देखने लग जाता है—तब सोचने की बात नीचे रह जाती है। कोई भी बात आती है तो देखने की बात मुख्य होगी, सोचने की बात पारिपार्श्विक बन जाएगी।

——आचार्यश्री महाप्रज्ञ

प्रसंग

धर्म का मर्म

यही एक विषय है जिस पर कहना, सुनना और लिखना जितना जटिल है, उतना ही सरल भी। सरल तो इसलिए कि धर्म की परिभाषा करना सबके लिए 'सुविधाचार' हो गया है। अपनी तरह से हर कोई धर्म की परिभाषा कर सकता है और अपने किए के औचित्य को स्थापित करने में 'धर्म' का सहारा भी ले सकता है। एक चोर-लफंगा भी जो कुछ वह करता है, कह सकता है कि—'यह करना उसका धर्म है' और इसीलिए उन्मादग्रस्त लोगों द्वारा समाज में उत्पन्न हिंसा, अराजकता के औचित्य को स्थापित करने में भी धर्म की ओट लेते संकोच नहीं होता। यहां तक कि अत्यंत विचारशील लोग भी ऐसे कृत्य पर जब प्रतिक्रिया देते हैं तो बहु-प्रचलित शब्दों का ही इस्तेमाल होता है। मिसाल के तौर पर—'धार्मिक उन्माद फैलाने वालों का समाज में कोई स्थान नहीं'—प्रचलित तौर पर तो यह बात ठीक ही कही जाएगी, पर यदि सूक्ष्मता से देखें तो 'धार्मिक उन्माद' के अर्थ क्या होते हैं—ऐसा कहते हुए, क्या कहने वाले के मन में यह स्वीकृति-बोध नहीं होता कि 'धर्म में उन्माद के तत्त्व' होना वह स्वीकार करता है?

अनजाने या भोलेपन में ही सही—वे लोग जो हिंसा, अराजकता में 'धार्मिक-उन्माद' के तत्त्व देखते हैं, धर्म-तत्त्व के साथ वे बड़ा अन्याय करते हैं। यदि कहीं धर्म है, तो वहां भला 'उन्माद' कैसे हो सकता है? अतः 'धार्मिक-उन्माद' जैसा विचार एक ओर जहां धर्म-तत्त्व का अनिष्ट करता है, उसके प्रति अनास्था पैदा करता है—वहीं दूसरी ओर इस तरह के उन्मादों से उत्पन्न होने वाले विग्रह, हिंसा, अनाचार, अन्याय में काम कर रहे मूल-तत्त्व को पहचानने की चूक भी कर बैठता है।

इसका नतीजा भी हम देख रहे हैं। जो 'धर्म-तत्त्व' व्यक्ति व समाज में आत्मानुशासन के लिए नितांत आवश्यक है, वही धर्म-तत्त्व कलुषित कर डाला गया है। जो धर्म-तत्त्व मनुष्य की दृष्टि को मांजने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है, वही धर्म-तत्त्व मनुष्य-मनुष्य के बीच खाइयां खोदने का काम करने लगा है। दरअसल यह धर्म का कार्य है ही नहीं, पर दुर्भाग्य से इन सबके लिए

दोषी सदा धर्म ही माना जाता रहा है और हर कोई 'धर्म' को ही कटघरे में खड़ा करता आया है। एक 'बड़ा झूठ' मजबूती के साथ 'सच' के रूप में आज स्थापित हो रहा है। लेकिन इसके लिए उत्तरदाई कौन है? कहना होगा कि इसकी पहली जवाबदेही उन्हीं की है जो 'धर्म-गुरु' कहे जाते हैं।

वे धर्म-गुरु जो धर्म-संप्रदाय की ओट में क्षुद्र राजनीति चलाते हैं और निहित स्वार्थों में लिप्त रहते हैं, ऐसी परिस्थिति के लिए उत्तरादाई हैं और धार्मिक-उन्माद या धार्मिक-कट्टरता जैसे शब्द इन्हीं परिस्थितियों की उपज है। लेकिन वे धर्म-संप्रदाय जो ऐसी क्षुद्रता से मुक्त हैं, पर तटस्थ व अबोले हैं, प्रकारांतर से उनको ही शक्तिशाली बना रहे हैं जो उन्माद या कट्टरता के बीज बो रहे हैं। अतः यह जरूरी हो जाता है कि धर्म-संप्रदाय में आए इस कल्मष को साफ करने के लिए वे पहल करें और धर्म की उज्ज्वल व वास्तविक छवि की सुदृढ़ प्रतिष्ठापना में अपनी भूमिका निर्बाध स्थापित करें।

धर्म को लेकर देश का अति-सामान्य जन सबसे अधिक विभ्रांत है। उसके सामने धर्म का अर्थ मंदिर, मस्जिद, गिरजाघर, गुरुद्वारा तक सीमित है। उसे यह कब समझाया गया कि गीता, बाइबिल, कुरान, गुरु ग्रंथ साहिब, आगम या त्रिपिटक में धर्म का जो मर्म बताया गया है—वह सबमें एक ही है।

'धर्म का मर्म' वह सत्य है जिसमें मनुष्य-मनुष्य सौहार्द के साथ परस्परता पर आधारित जीवन जीए और प्राणी मात्र का भी अनिष्ट नहीं सोचे। सभी धर्मशास्त्रों में यही 'धर्म का मर्म' बताया गया है। यही मूल-तत्त्व और धर्म का मेरु-आधार माना गया है। धर्म तोड़ने वाला नहीं, सदा जोड़ने वाला ही रहा है और हर धर्मशास्त्र में धर्म को इसी तरह परिभाषित-विवेचित किया गया है। मंदिर, मस्जिद, गिरजा या गुरुद्वारा धर्म के मूल-तत्त्व कब रहे हैं? मूल-तत्त्व को लेकर कभी भी वितंडावाद नहीं हुआ, जब भी हिंसा या अराजकता का ग्रहण समाज पर लगा है तो वह इन्हीं 'दोयम-श्रेणी' के तत्त्वों से ही लगा है।

पिछले लंबे समय से धर्म के नाम पर जो हो रहा है, उससे उपरोक्त बात की पुष्टि होती है। अतः यह जरूरी हो गया है कि धर्म के 'दोयम-श्रेणी-तत्त्व' समाज से दर-किनार हों और मूल धर्म-तत्त्व का प्रभाव स्थापित हो।

इस दृष्टि से प्रभावक धर्म-गुरुओं से यह आशा करना उचित ही होगा कि वे समग्रता के साथ समाज को दिशा दें और खंड-खंड हुई जा रही मनुष्यता को एकसूत्र में बांधें। बेशक यह कार्य अकेले प्रभावक धर्म-गुरुओं का नहीं है। समाज का वह बौद्धिक-मनीषी वर्ग भी इसके लिए सक्रिय होना जरूरी है जो अपनी ज्ञान-रश्मियों से समाज को ज्योति प्रदान करता रहा है। दरअसल इस बात से भी कम क्षति नहीं हुई है कि बौद्धिक-वर्ग ने धर्म-संप्रदाय को सदा संकीर्ण दायरों में आबद्ध माना और इस तरह समाज को जोड़े रखने वाले धर्म में विद्यमान अमृत-तत्त्व की भी अनदेखी की जाती रही।

धर्म के नाम पर उन्माद या कट्टरता पैदा करने वालों की इसलिए भी बन आई कि विचारशील पवित्र समाज ने धर्म से अनपेक्षित दूरी बनाए रखी। अब जब स्थितियां बेकाबू होने के कगार पर हैं तो समाज की पवित्र मेधा से यह अपेक्षा स्वाभाविक है कि वह इस दूरी को समाप्त करे और धर्म के वास्तविक तत्त्व जो—सत्य, अहिंसा, परस्परता, समता और सह-अस्तित्व में निहित हैं—की पुनर्स्थापना के लिए अपनी ऊर्जा-क्षमता को प्रयोग में लाए।

अन्यथा समय कभी किसी को माफ नहीं करता। समय ही साक्षी होता है इतिहास का और यही वह दस्तावेज है जिसे देखकर आने वाली पीढ़ी इस पीढ़ी के किए-धरे का मूल्यांकन करेगी।

क्या भावी-पीढ़ी की नजर में हम मलिन-पतित ही दिखना चाहते हैं? नहीं! हरगिज नहीं!!

तब 'धर्म का मर्म' न केवल हमें समझना होगा, उसे पुनर्स्थापित करने के अपने दायित्व का निर्वाह भी करना होगा।

— शुभू पटवा

विमर्श

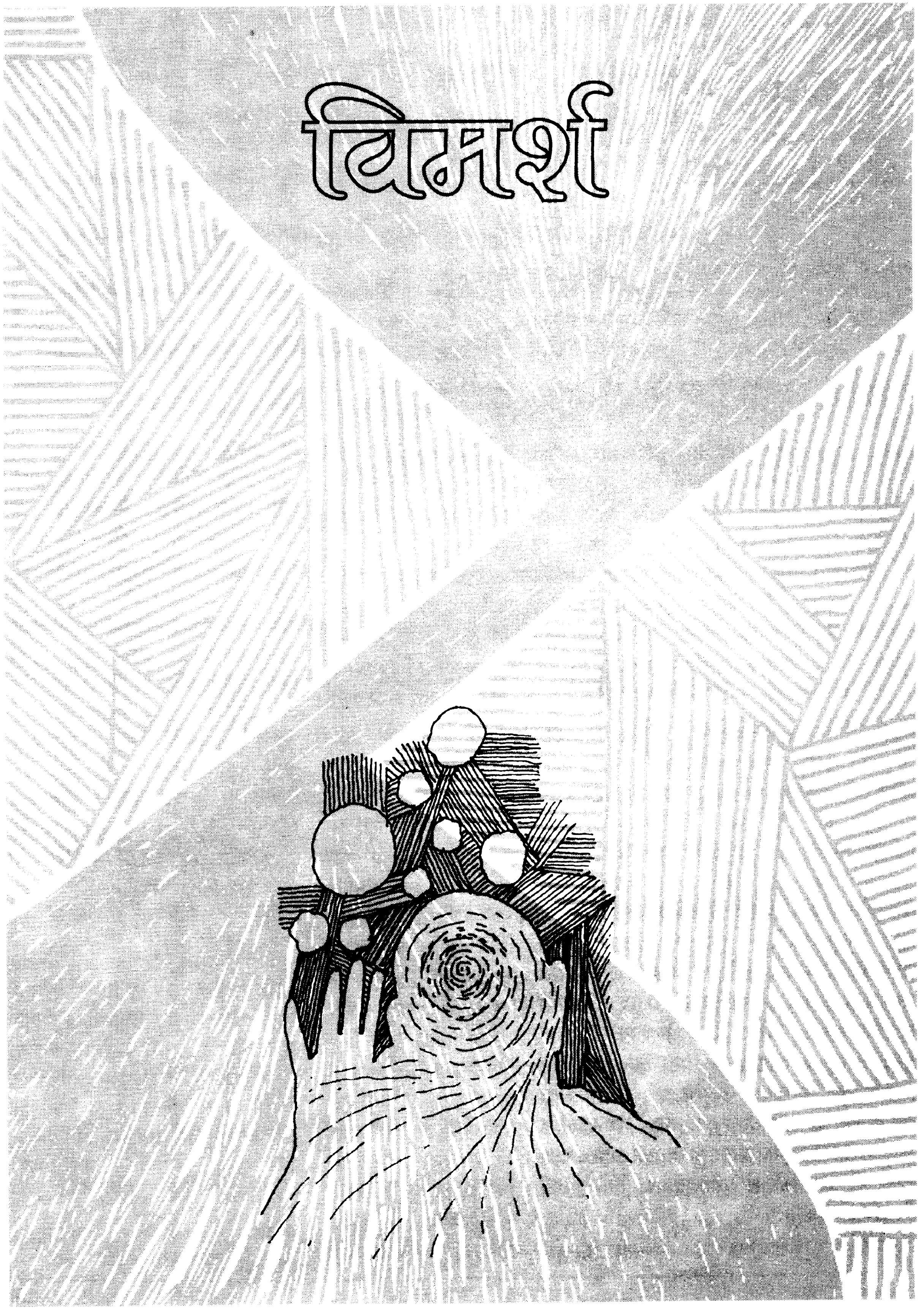

मेरे जीवन के उत्तरार्ध में मेरे पास जितने भी रोगी आए उनमें से एक भी ऐसा नहीं था जिसकी समस्या, अंतिम निष्कर्ष में, अपने जीवन के लिए एक धार्मिक दृष्टिकोण की प्राप्ति न रही हो। यह कहना ठीक होगा कि उनमें से हरेक केवल इसलिए बीमार पड़ा कि जीवंत धर्म प्रत्येक युग में अपने अनुयाइयों को जो चीज देते हैं उसे वह खो चुका था और जिन लोगों ने अपना धार्मिक दृष्टिकोण पुनः नहीं प्राप्त किया उनमें से एक को भी वास्तव में नीरोग नहीं किया जा सका।

—सी.जी. युंग

भारतीय दर्शन : समन्वय का स्वर

आचार्यश्री महाप्रज्ञ

सत्य एक है, पर उसका मुंह ढंका हुआ है, इसलिए वह अनेक हो गया।

सत्य एक है, किंतु विद्वान उसे नानारूपों में व्यक्त करते हैं, इसलिए दर्शन भी अनेक बन गए।

सत्य एक था, सत्य एक है और सत्य एक ही रहेगा। दर्शन अनेक हैं, अनेक रहेंगे।

जहां दर्शन अनेक हैं, वहां समन्वय खोजा जाता है। भारत में चिंतन का बहुत विकास हुआ है। वह बहुत आगे बढ़ा है। दर्शन अनेक होने पर भी भारतीय दर्शनों की यह विशेषता रही है कि उनमें उद्देश्यों की एकता है। लगभग सभी दर्शन एक ही उद्देश्य को लेकर चलते हैं। सबका उद्देश्य है मोक्ष। इस लक्ष्य की एकता के कारण समन्वय की बात अपने-आप आ जाती है। मोक्ष मिलता है समन्वय से, समता से। प्रत्येक धर्म और दर्शन ने राग-द्वेष को कम करने की बात कही। न्याय, वैशेषिक, बौद्ध, जैन, शैव आदि जितने भी दर्शन हैं—सबका उद्देश्य है मोक्ष और उसका साधन है—राग-द्वेष की क्षीणता। इस साधन की स्वीकृति में सब एकमत हैं। इसी आधार पर भारतीय दर्शनों में समन्वय की बात बहुत आगे बढ़ी।

भारत में दर्शन की प्रधानतः दो धाराएं रही हैं। एक—ब्राह्मण परंपरा और दूसरी है—क्षत्रिय परंपरा या श्रमण परंपरा। ब्राह्मण दर्शन का भी विकास हुआ और श्रमण दर्शन का भी विकास हुआ। प्राचीन ब्राह्मण परंपरा—जिसने दर्शन का विकास किया, वह उदार, समभावी और समन्वयवादी थी। उस परंपरा ने भगवान ऋषभ को भी एक अवतार के रूप में स्वीकार कर लिया। बुद्ध को भी अवतार मान लिया। यह स्वीकृति वास्तव में आश्चर्य की बात थी। एक ओर ब्राह्मण दर्शन का श्रमण-दर्शन, जैन-दर्शन और बौद्ध-दर्शन के साथ वैचारिक मतभेद था, तो दूसरी ओर ऋषभ और बुद्ध को अवतार मानकर उदारता प्रकट की गई थी। वैचारिक खंडन-मंडन बहुत हुआ, पर यह समन्वय भी साथ-साथ चलता रहा। अनेक उपनिषद्, जो क्षत्रिय ऋषियों द्वारा प्रणीत थे, उन्हें भी ब्राह्मणों ने अपना लिया। ब्राह्मण परंपरा ने आत्मवाद का सिद्धांत क्षत्रियों से लिया। छांदोग्य उपनिषद् और बृहदारण्यक उपनिषद् में इस विषय की स्पष्ट चर्चाएं उपलब्ध हैं कि ब्राह्मणों ने किस प्रकार क्षत्रियों से आत्म-बोध का ज्ञान प्राप्त किया था और क्षत्रियों ने आत्मा विषयक जानकारी किस प्रकार ब्राह्मणों को दी थी। यह समन्वय का अद्भुत सूत्र प्राचीन साहित्य में उपलब्ध है। दो-ढाई हजार वर्ष पूर्व अनायोजित दार्शनिक सम्मेलन होते थे। जब किसी दर्शन के महान आचार्य का आगमन होता तो विभिन्न दर्शनों के आचार्य, परिव्राजक, संन्यासी, मुनि बिना रोक-टोक चले आते और धर्म-दर्शन की चर्चा करते। वे साथ-साथ

“ *विचारों की स्वतंत्रता को रोका नहीं जा सकता। उसे रोकना बहुत खतरनाक होता है। क्योंकि जहां विचारों की स्वतंत्रता नहीं होती, वहां विचारों का विकास रुक जाता है, ठप्प हो जाता है। विचार-विकास का सबसे बड़ा द्वार है विचार की स्वतंत्रता। एक आदमी सोचे वैसे ही सब सोचें तो उससे वैचारिक कुंठा पैदा होती है और वहां नई स्फुरणा के लिए कोई अवकाश ही नहीं रहता।*

•

वैचारिक विकास के लिए विचारों की स्वतंत्रता बहुत आवश्यक है। इसी आधार-बिंदु पर भारत में अनेक दर्शनों ने जन्म लिया। कुछ मुख्य दर्शन हैं पर उनके उपजीवी दर्शन अनेक हैं। बहुत लोग सोचते हैं कि अनेक धर्म-दर्शनों के बीच रहता हुआ मनुष्य दिग्भ्रांत हो जाता है। ऐसा नहीं है। मनुष्यों की रुचि भिन्न होती है। अपनी रुचि और विचार के अनुसार धर्म-दर्शन की स्वीकृति बहुत लाभप्रद होती है। यह गौरव की बात है कि भारत में विचारों का इतना विकास हुआ कि यहां अनेक धर्म-दर्शन विकसित हुए। यहां सैकड़ों विचारक-दार्शनिक हुए हैं, जिन्होंने भिन्न-भिन्न दर्शनों का प्रचार-प्रसार किया। भिन्न-भिन्न दर्शनों का होना कोई विरोधी बात नहीं है।

•

क्या सब विचारों को एक कर दिया जाए? क्या सब दर्शनों को एक कर दिया जाए? ऐसा करना संभव भी नहीं है और अच्छा भी नहीं है। यदि सब एक हो जाएं या कर दिए जाएं तो संभवतः दर्शन के क्षेत्र में दुर्भिक्ष लाने जैसी बात होगी। चिंतन दरिद्र हो जाएगा। ”

रहते, तर्क-वितर्क करते और समाधान लेने-पाने के लिए उत्सुक रहते। कहीं कोई अवरोध नहीं था। विचारों की स्वतंत्रता मान्य थी। विचार-भेद होने पर भी विचार की स्वतंत्रता में कहीं कोई उपघात नहीं होता था।

विचारों की स्वतंत्रता को रोका नहीं जा सकता। उसे रोकना बहुत खतरनाक होता है। क्योंकि जहां विचारों की स्वतंत्रता नहीं होती, वहां विचारों का विकास रुक जाता है, ठप्प हो जाता है। विचार-विकास का सबसे बड़ा द्वार है विचार की स्वतंत्रता। एक आदमी सोचे वैसे ही सब सोचें तो उससे वैचारिक कुंठा पैदा होती है और वहां नई स्फुरणा के लिए कोई अवकाश ही नहीं रहता।

भारत में दो-तीन शताब्दियों से वैचारिक स्वतंत्रता कम हो गई और परंपरावादिता बढ़ गई, प्राचीनता का मोह बढ़ गया। लोग मानने लगे कि प्राचीन लोगों ने जो कहा—उसी का अनुसरण करना चाहिए। इस मान्यता ने नए के लिए अवकाश ही समाप्त कर डाला। जहां नई बात के लिए अवकाश नहीं रहता, वहां वैचारिक दरिद्रता की स्थिति बन जाती है, वैचारिक संपन्नता क्षीण हो जाती है।

कुछेक परंपरावादी लोग नई बातों के पक्ष में नहीं होते। वे सदा पुरानी बातों से चिपके रहते हैं। किंतु आज जो पुरानी हैं, कभी तो वे भी नई रही होंगी। दो सौ वर्षों की बात आज पुरानी लगती है। पर दो सौ वर्ष पूर्व तो वह भी नई ही थी। उस समय उसका भी विरोध हुआ था। आज उसे मान्यता प्राप्त है। यह स्वाभाविक है कि नई बात का विरोध होता है। जो पुरानी हो जाती है, उसे अपने-आप मान्यता मिल जाती है।

वैचारिक विकास के लिए विचारों की स्वतंत्रता बहुत आवश्यक है। इसी आधार-बिंदु पर भारत में अनेक दर्शनों ने जन्म लिया। कुछ मुख्य दर्शन हैं पर उनके उपजीवी दर्शन अनेक हैं। बहुत लोग सोचते हैं कि अनेक धर्म-दर्शनों के बीच रहता हुआ मनुष्य दिग्भ्रांत हो जाता है। ऐसा नहीं है। मनुष्यों की रुचि भिन्न होती है। अपनी रुचि और विचार के अनुसार धर्म-दर्शन की स्वीकृति बहुत लाभप्रद होती है। यह गौरव की बात है कि भारत में विचारों का इतना विकास हुआ कि यहां अनेक धर्म-दर्शन विकसित हुए। यहां सैकड़ों विचारक-दार्शनिक हुए हैं, जिन्होंने भिन्न-भिन्न दर्शनों का प्रचार-प्रसार किया। भिन्न-भिन्न दर्शनों का होना कोई विरोधी बात नहीं है।

क्या सब विचारों को एक कर दिया जाए? क्या सब दर्शनों को एक कर दिया जाए? ऐसा करना संभव भी नहीं है और अच्छा भी नहीं है। यदि सब एक हो जाएं या कर दिए जाएं तो संभवतः दर्शन के क्षेत्र में दुर्भिक्ष लाने जैसी बात होगी। चिंतन दरिद्र हो जाएगा।

एक बार राजा भोज के मन में यह विचार आया कि इतने धर्मगुरु और इतने धर्म-संप्रदाय हैं, इन सबकी इतनी क्या आवश्यकता है? धर्म का ही तो उपदेश देना है। सबको एक हो जाना चाहिए। राजा ने यह बात धर्मगुरुओं से कही। धर्मगुरुओं ने कहा—'सबका एक होना असंभव है।' राजा ने सबको कारावास में डाल दिया।

जैन आचार्य सुराचार्य ने यह बात सुनी। वे राजा भोज के पास गए और धर्मगुरुओं को कारावास में डाल देने की पूरी घटना जानी। सुराचार्य से बातचीत के दौरान राजा भोज ने पूछा—'महाराज! धारानगरी कैसी लगी?' आचार्य बोले—'धारानगरी बहुत सुंदर है। पर अलग-अलग दूकानें हैं, यह अच्छा नहीं लगता। यदि इस नगरी में एक ही दूकान होती तो अच्छा रहता।' राजा बोला—'गुरुदेव! आप नहीं जानते, उपभोक्ताओं को कितनी-कितनी वस्तुएं चाहिए? एक ही दूकान से उन सब चीजों का मिलना असंभव है। उनको खरीद पाना भी असंभव है। अलग-अलग चीजें और अलग-अलग आवश्यकताएं।'

सुराचार्य बोले—'राजन्! तुम इस बात को असंभव मानते हो तो फिर विचारों के ग्राहक क्या अलग-अलग नहीं हैं? अलग-अलग विचार हैं और अलग-अलग ग्राहक। इस स्थिति में विचारों का एक हो जाना कैसे संभव हो सकता है? कोई भक्तिवाद में, कोई कर्मकांड में और कोई ज्ञानवाद में रस लेता है। सबको एक कैसे कर दें? क्या एक संप्रदाय से काम चल जाएगा?' बात राजा के गले उतर गई और उसने सभी धर्माचार्यों को मुक्त कर दिया।

सभी विचार एक हो नहीं सकते। असंभव है। यदि संभव होगा तो दुर्भाग्य होगा, चिंतन का दुर्भिक्ष होगा।

विचार की स्वतंत्रता, रुचि और चिंतन की स्वतंत्रता का होना बहुत जरूरी है। पक्षी अनंत आकाश में उड़ना पसंद करता है। वह पिंजरे में बंद होना नहीं चाहता। यदि सभी पक्षियों को पिंजरे में बंद कर दिया जाए तो पेड़ निरर्थक हो जाएंगे। उस स्थिति में न जाने कितने पक्षी जीएंगे और कितने मर जाएंगे।

विचार की स्वतंत्रता रहेगी, अनेक दर्शन होंगे, अनेक धर्मसंघ होंगे और अनेक संप्रदाय होंगे। इस प्रवाह को रोका नहीं जा सकता। पतझड़ के बाद वसंत निश्चित आता है। प्रकृति के इस नियम को नहीं बदला जा सकता।

इस संदर्भ में यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि जब सब विचारों को एक नहीं किया जा सकता तो फिर समन्वय

की बात क्यों की जाती है? मैं मानता हूं, समन्वय के स्वर की बहुत आवश्यकता है। अनेकता में एकता और एकता में अनेकता खोजना यह दर्शन का महत्त्वपूर्ण सूत्र है। जिस व्यक्ति ने इस सूत्र को नहीं पकड़ा, उसने दर्शन का स्पर्श नहीं किया। दर्शन का अर्थ है—एकता में अनेकता की खोज और अनेकता में एकता की खोज। दोनों ओर से चलें। अभेद से भेद की ओर और भेद से अभेद की ओर। जगत में ऐसी एक भी वस्तु नहीं है जिसे सर्वथा भिन्न कहा जाए या सर्वथा अभिन्न कहा जाए।

दूध दूध होता है, पर क्या सब दूध समान ही होता है? एक मरियल गाय का दूध है और दूसरा हृष्ट-पुष्ट गाय का दूध है। पर दोनों की प्रकृति में कितना अंतर होता है? एक पतला, एक गाढ़ा। एक अस्वास्थ्यकर और एक स्वास्थ्यप्रद। अश्वगंधा नागौर के आसपास भी पैदा होती है और हिमालय पर भी उत्पन्न होती है। दोनों अश्वगंधा ही कहलाती हैं। किंतु दोनों की प्रकृति में बहुत बड़ा अंतर होता है। दोनों को एक नहीं कहा जा सकता। इस प्रकृतिभेद को समझना प्रत्येक दार्शनिक और चिंतक के लिए आवश्यक है।

समन्वय का सूत्र इसलिए खोजा गया कि अनेकता हो पर संघर्ष न हो। दो शब्द हैं—मतभेद और मनभेद। मतभेद होना बुरा नहीं है, पर मनभेद होना बुरा है। समन्वय इसीलिए कि मनभेद न हो। जब मनभेद नहीं होता, तब मतभेद सताने वाला नहीं होता। इतिहास साक्षी है कि दो विरोधी विचारधारा वाले भी परस्पर मिल-जुलकर रहते हैं। उनमें न कोई संघर्ष है, न चिनगारी है। इसका कारण है कि मतभेद होने पर भी वहां मनभेद नहीं। जहां मनभेद नहीं होता, वहां समन्वय जल्दी सध जाता है। विरोध होना बुरी बात नहीं है।

जैन दर्शन की मान्यता है, जहां दो विरोधी बातें नहीं होतीं, वहां सत्य होता ही नहीं। अनिवार्य है दो विरोधी तत्त्वों का होना। आज विज्ञान के क्षेत्र में भी यह तथ्य सम्मत हो चुका है कि पक्ष है तो प्रतिपक्ष होना ही चाहिए। यानी 'मेटर' है तो 'एण्टीमेटर' अवश्य होना चाहिए। जहां दो नहीं हैं, वहां अस्तित्व की स्थापना नहीं की जा सकती। विज्ञान की भी यही मान्यता है। विरोध होना बुरा नहीं। किंतु विरोध में से, अनेकता में से एकता को खोजना है।

एक बार महाराजा जयसिंह के पास आकर कुछ व्यक्तियों ने कहा—'राजन्! आप सोमनाथ की यात्रा पर जा रहे हैं। पर आपके गुरु हेमचन्द्र आपके साथ नहीं जाएंगे, क्योंकि वे महादेव को नहीं मानते।' महाराजा जयसिंह ने यह सुना। वे आचार्य हेमचन्द्र के पास जाकर बोले—'गुरुदेव! हम सोमनाथ की यात्रा पर जा रहे हैं। आप साथ चलेंगे?' आचार्य हेमचन्द्र बोले—'मुझे क्या आपत्ति है? मैं अवश्य साथ चलूंगा।' वे साथ हो गए। सोमनाथ मंदिर में पहुंचे। राजा ने महादेव की वंदना की। राजा ने आचार्य हेमचन्द्र से कहा—'आप भी वंदना करें।' वे उठे। महादेव के लिंग के समक्ष गए और संस्कृत में रचा एक स्तोत्र पढ़ा। उसका नाम है—महादेव स्तोत्र। उसका पहला श्लोक है—

'भवबीजांकुरजननाः, रागाद्याः क्षयमुपागताः यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा, हरो जिनो वा नमस्तस्मै।।'

—संसार को पैदा करने वाले राग और द्वेष जिस आत्मा के क्षीण हो चुके हैं, वह आत्मा चाहे ब्रह्मा कहलाए, विष्णु कहलाए, महादेव या जिन कहलाए—मैं उस आत्मा को नमस्कार करता हूं।

यह समन्वय का सूत्र है। नमस्कार वीतराग आत्मा को किया जाता है। फिर उसका नाम चाहे जो-कुछ भी हो। नाम और रूप से कोई प्रयोजन नहीं है। नाम और रूप ने ही सारे झंझट खड़े कर रखे हैं। इनके बिना संसार चलता नहीं। उपनिषद् में कहा गया है—'ब्रह्म अनाम और अरूप होता है। किंतु ब्रह्म के मन में एक विकल्प उठा—एकोहं बहुस्याम्—मैं अकेला हूं, बहुत बन जाऊं।' यह संकल्प किया और नाम तथा रूप ग्रहण कर अवतार ले लिया। अब वह नाम और रूप बन गया। उसका स्वरूप जो अनाम और अरूप था, वह नहीं रहा। संसार में माया-जाल पैदा हो गया। सारी समस्याएं और माया क्या है? इनका जनक कौन है? नाम और रूप की समस्या है। ये दो ही सारी उलझनों के जनक हैं। आदमी इनमें उलझ जाता है। इसी के आधार पर जो सत्य पर विश्वास था, वह कम हो गया। नाम और रूप पर विश्वास बढ़ गया। जब विश्वास मूल से हटकर दूसरी बात पर हो जाता है, तब समस्याएं पैदा होती हैं।

जब हमारा विश्वास नाम और रूप में जम गया तब सत्य से विश्वास हट जाता है। सारे संप्रदाय, धर्म-दर्शन और समस्याएं नाम और रूप में उलझी हुई हैं। इसीलिए समस्याएं पैदा हो रही हैं। जिसके मन में जिस नाम-रूप पर विश्वास जमा हुआ है, उस नाम-रूप का उच्चारण होते ही व्यक्ति के मन में पुलकन आ जाती है, रोम-रोम हर्षित हो जाता है।

हमारे एक मुनि मुंहपत्ती खोलकर कुल्ला कर रहे थे। इतने में वहीं रहने वाले एक व्यक्ति ने अपने पांच वर्ष के पुत्र को कहा—'जाओ, महाराज को वंदना कर आओ।' बच्चा गया। महाराज के मुंह की ओर देखा, बिना वंदना किए लौट आया। पिता ने तीन बार भेजा, पर बच्चे ने वंदना नहीं की।

पूछने पर वह बोला—'बाबू! वह तो महाराज नहीं हैं, आदमी हैं।'

मुंह पर मुंहपत्ती होती है तो महाराज, अन्यथा आदमी। बच्चे की दृष्टि रूप में अटकी हुई थी। वह भला कैसे वंदना करता? इसी नाम और रूप के आग्रह के कारण सांप्रदायिक वैमनस्य और अन्यान्य झंझट होते हैं।

समन्वय का अर्थ है—नामातीत और रूपातीत सत्य की खोज करना। जैन आचार्यों ने इस दिशा में पहल की है। आचार्य हरिभद्र ने इसी समन्वय की दिशा को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

'पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद् वचन् यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः।।'

—महावीर के प्रति मेरा कोई पक्षपात नहीं है। मेरे क्या लगते हैं महावीर? कपिल आदि दार्शनिकों के प्रति मेरा कोई द्वेष नहीं है और जैन तीर्थंकरों के प्रति मेरा कोई राग नहीं है। जिसका वचन युक्तिसंगत है—वह मुझे मान्य है, फिर वह वचन चाहे महावीर का हो या अन्य किसी भी दार्शनिक का।

समन्वय का यह सूत्र कल्पनातीत है। जो इस सूत्र को लेकर चलता है, वह न नाम में उलझता है और न रूप में उलझता है।

उत्तररामचरित ग्रंथ के प्रणेता भवभूति ने वंदना के स्वरों में कहा—'मैं हरि को वंदना करता हूं, वे मेरी रक्षा करें?' कौन हरि? उन्होंने नाम का झंझट मिटाते हुए कहा—'मैं उस हरि को वंदना करता हूं, जिसे शैव शिव के रूप में मानते हैं, वेदांती ब्रह्म के रूप में, मीमांसक कर्म के रूप में और जैन अर्हत् के रूप में। वह अनेक रूपधारी हरि हमारी रक्षा करे।' कितना बड़ा सूत्र! कितने उदार विचार! नाम का भेद ही समाप्त हो गया।

भारतीय दर्शनों ने इस समन्वय के स्वर को यत्र-तत्र मुखरित किया है। यदि धर्म और दर्शन के आचार्य इस स्वर को गुंजायमान नहीं करते तो बौद्धिक लोग कहते—ये दार्शनिक और विचारक नहीं—केवल झगड़ालू हैं। प्राचीन साहित्य ऐसे ही खंडन-मंडन से भरा पड़ा है। प्रत्येक दार्शनिक परंपरा ने अपने मत का मंडन और अन्य मतों का जी भरकर खंडन किया है। कोई भी परंपरा इसमें अपवाद नहीं रहती है। किंतु ऐसे आचार्यों की भी कमी नहीं है, जिन्होंने समभाव का दर्शन दिया और समन्वय सूत्र को आगे बढ़ाया। धर्म-दर्शन की मूल परंपराओं में दूरी कम है, विरोधाभास कम है, उनमें निकटता और समन्वय अधिक है। अस्सी प्रतिशत समन्वय है और केवल बीस प्रतिशत असमन्वय। यह सारा प्राचीन साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है।

पर आज की शिक्षा आजीविका से जुड़ गई है। इसलिए आज का आदमी प्राचीन साहित्य-संपदा से वंचित रह गया। वह संस्कृत, प्राकृत पढ़ना नहीं चाहता। वह चाहता है अंग्रेजी, फ्रेंच, जापानी और जर्मन भाषा पढ़ना। इन्हें पढ़ना बुरा नहीं है, पर मूल भारतीय आत्मा जिस भाषा में है, उस ओर झुकाव कम होने लगा है। क्योंकि आदमी की आजीविका प्राकृत और संस्कृत भाषा के आधार पर नहीं चलती, वह चलती है आधुनिक भाषा के ज्ञान से। इसीलिए भारत का आदमी वैचारिक दृष्टि से संपन्न नहीं रहा। वे अपनी संपदा को नहीं जान सकते। उसमें सन्निहित समन्वय के स्वर को नहीं पहचान पाते। समन्वय केवल हिंदू परंपराओं से नहीं, मुसलमान परंपराओं से भी हुआ है। एक उपनिषद् का नाम ही है—अल्लाहोपनिषद्। यह समन्वय का ही फलित है। यह सर्वग्राही दृष्टिकोण एक बहुमूल्य धरोहर है। इस प्रकार देखते हैं तो प्रतीत होता है कि भारत की भूमि में समन्वय का स्वर अधिक मुखरित रहा है। असमन्वय विरल रहा है।

जैनों के श्वेतांबर और दिगंबर संप्रदायों में दो-चार तथ्यों का ही अंतर है, समन्वय अधिक है। इसी तरह अन्यान्य संप्रदायों में भी समन्वय के तथ्य अधिक हैं। सभी संप्रदाय वाले पवित्रता में विश्वास करते हैं, अहिंसा और करुणा में विश्वास करते हैं, शाकाहार में विश्वास करते हैं। ये सारे निकटता के तथ्य हैं।

आज की अपेक्षा है कि दृष्टिकोण बदला जाए। असमन्वय में समन्वय खोजना आवश्यक है। आचार्य हरिभद्र समन्वय के पुरस्कर्ता थे। उनका एक ग्रंथ है—शास्त्रवार्तासमुच्चय। यह भारतीय साहित्य का अनमोल रत्न है, बेजोड़ ग्रंथ है, अमूल्य निधि है। इसका प्रतिपाद्य है—धर्मों का समन्वय। उन्होंने उस ग्रंथ में अनेक तथ्यों का समन्वय साधा। जैन ईश्वरवादी नहीं हैं, वे जगत-कर्तृव्य को नहीं मानते। वे मानते हैं कि जगत का कर्ता ईश्वर नहीं है। वह अनादि-अनंत है। अनेक दर्शनों का विश्वास है कि जगत का निर्माता ईश्वर है। ये दो विरोधी बातें हैं। पूर्व और पश्चिम की भांति विरोधी। परंतु इनमें भी समन्वय की बात उजागर करते हुए शास्त्रवार्ता ग्रंथ में लिखा है—

'पारमैश्वर्ययुक्तत्वाद् आत्मा हि मत ईश्वरः।
स च कर्तेति निर्दोषः, कर्तृवादो व्यवस्थितः।।'

शेष पृष्ठ 24 पर

उपवास :
आवेगमुक्त शरीर का आधार

मुनि महेंद्रकुमार

आज हम उपवास के महत्त्व को भूल गए हैं और पश्चिम के लोग उपवास-चिकित्सा का प्रयोग करने लगे हैं। न जाने कितने वर्षों से चल रहा है। उपवास-चिकित्सा पर पश्चिम में जितनी अच्छी पुस्तकें निकली हैं, शायद भारत में नहीं निकलीं। उपवास प्रयोग है, अगर प्रयोग की दृष्टि से किया जाए। उपवास प्रयोग तब बनता है, जब पहले दिन हलका खाना खाया जाए और पारणा में हलका खाया जाए। तीन दिन बराबर यह चले। पहले दिन हलका भोजन, दूसरे दिन उपवास और तीसरे दिन फिर हलका भोजन, तब उपवास वास्तव में प्रयोग बनता है।

•

अपनी जिह्वा के स्वाद तथा अप्राकृतिक आदतों के कारण हमारे शरीर में अनेक प्रकार का विजातीय कचरा इकट्ठा हो जाता है। उसके प्रभाव से मुक्त होने के लिए उपवास एक रामबाण ओषधि के समान है। साधारणतया लोग उपवास से डरते हैं। डॉक्टर लोग भी यही कहते हैं कि शरीर की शक्ति बनाए रखने के लिए कुछ-न-कुछ खाते रहना चाहिए। पर प्राकृतिक जीवन जीने वाले प्राणियों की ओर ध्यान दिया जाए तो यही लगेगा कि वे अपनी बहुत-सारी बीमारियां उपवास के द्वारा ही ठीक करते हैं। धीरे-धीरे इस ओर लोगों का ध्यान जा रहा है ; यह भी एक शुभ लक्षण है। उपवास के द्वारा अनेक रोगों से मुक्त हुआ जा सकता है। यह आपको क्षीण करने वाला नहीं है, अपितु तेजस्विता प्रदान करने वाला है।

जैन जीवन-शैली में तप एक महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक साधना है। महावीर की साधना-पद्धति में उसे 'निर्जरा' अर्थात् कर्म-संस्कारों से मुक्ति का एक सक्षम साधन माना है। तप या निर्जरा के बारह प्रकार हैं—छह बाह्य, छह आंतरिक। उपवास, ऊनोदरी, वृत्ति-संक्षेप, रस-परित्याग आदि तप के बाह्य प्रकार हैं। चारों का संबंध भोजन और अभोजन से है। खाना जितना महत्त्वपूर्ण है, उतना ही महत्त्वपूर्ण 'नहीं खाना' भी है। खाने का जितना मूल्य है 'नहीं खाने' का भी उससे कम मूल्य नहीं है। जब तक हम 'नहीं खाने' पर विचार नहीं करते, तब तक भोजन का विषय पूर्ण-दृष्टि से चर्चित नहीं होता। स्वास्थ्य के लिए यदि संतुलित भोजन जरूरी है तो भोजन को छोड़ना भी उसके लिए बहुत जरूरी है। अनाहार को छोड़कर केवल आहार को देखना वास्तव में आहार के प्रति भ्रांत होना है और अपने स्वास्थ्य के प्रति भी अन्याय करना है। जो लोग केवल भोजन का ही महत्त्व समझते हैं, उसे छोड़ने का महत्त्व नहीं समझते, वे न केवल मोटापे की बीमारी से ग्रस्त होते हैं, किंतु अन्य बीमारियां भी उन्हें आक्रांत करती हैं।

'खाना', 'नहीं खाना', कब, कैसे, और कितना खाना—मधुर और स्निग्ध खाना या रूखा-सूखा खाना—आदि-आदि अनेक प्रश्नों का सम्यक् उत्तर है—आहार-विवेक।

आहार और अनाहार

आप आहार करते हैं, परंतु यदि उपवास करना नहीं जानते, अनाहार रहना नहीं जानते तो आपका आहार आपके लिए कठिनाई बन जाता है। आहार ही जटिलता पैदा करता है। हम आहार करते हैं भूख की समस्या को समाहित करने के लिए। वही आहार अनेक समस्याएं हमारे सामने प्रस्तुत कर देता है। जो लोग केवल आहार करते हैं, उपवास नहीं करते या उपवास का मर्म नहीं जानते, वे समस्याओं को कम नहीं कर सकते। उपवास का अर्थ नहीं खाना भी है, कम खाना भी है, आहार की मात्रा को कम करना भी है।

शरीर में जितने काम-केंद्र, वासना-केंद्र, आवेग-केंद्र और स्मृति-केंद्र हैं—वे सारे भोजन को प्राप्त कर उत्तेजित होते हैं। भोजन के अभाव में ये सारे केंद्र शिथिल हो जाते हैं। चूंकि उन्हें अब सहयोग नहीं मिलता, सहयोग का रास्ता कट जाता है। सेना को जब रसद नहीं मिलती, वह आगे नहीं बढ़ पाती। शत्रु-सेना सबसे पहले रसद के मार्ग को काट देती है। उपवास रसद के मार्ग को काट देता है। उस स्थिति में इंद्रियां शांत और मन शांत, इस प्रक्रिया के द्वारा होता यह है कि उत्तेजना या सक्रियता के जो साधन हैं, उपाय हैं, निमित्त हैं—उनको हम

समाप्त कर देते हैं, किन्तु पूरा समाप्त नहीं कर पाते। यह पूरी प्रक्रिया नहीं है। केवल मार्ग में जो व्यवधान डालते थे, उन्हें शिथिल-भर बना पाते हैं। आहार का विसर्जन, परित्याग—एक शब्द में उपवास—इसलिए कि जिससे उत्तेजना पैदा हो रही है—उसका मार्ग अवरुद्ध किया जाए।

हम भोजन नहीं करते तो इसका परिणाम केवल स्थूल शरीर पर ही नहीं होता, सूक्ष्म शरीर पर भी होता है। यदि उसका परिणाम केवल स्थूल शरीर पर ही होता तो बहुत छोटी बात होती। सूक्ष्म शरीर को भी शक्ति प्राप्त होती है स्थूल शरीर के माध्यम से। उसे भी शक्ति चाहिए। वह स्थूल शरीर से ऐसा काम करवाता है कि उसे शक्ति प्राप्त हो सके। उपवास करना सूक्ष्म शरीर को पसंद नहीं है। भूखा रहा स्थूल शरीर और चोट पड़ी सूक्ष्म शरीर पर। ऊर्जा का स्रोत है स्थूल शरीर। हमारा मन बुरी बात सोचता है तो ताकत किसे मिलती है? ताकत मिलती है सूक्ष्म शरीर को, कर्म शरीर को। सारी शक्ति प्राप्त होती है स्थूल शरीर के द्वारा। जब भोजन बंद होता है तो परेशानी होती है सूक्ष्म शरीर को। उसका प्रभाव वहां तक पहुंच जाता है।

उपवास

उपवास सबसे बड़ी ओषधि है। हम जब तक इसके महत्त्व को नहीं समझेंगे, हमारे भोजन की समस्या का समाधान नहीं निकलेगा। द्वितीय महायुद्ध के बाद जब जर्मनी में सर्वेक्षण किया गया तब निष्कर्ष निकाला गया कि यहां अधिकांश बीमारियां अतिभोजन के कारण हुई हैं। हम लोग इतना खाते हैं जितना हमें नहीं खाना चाहिए। हमें जितनी भूख लगती है उसे चार भागों में बांट देना चाहिए। दो भाग भोजन के लिए, एक भाग पानी के लिए और एक भाग वायु के लिए छोड़ देना चाहिए। परंतु लोग जब खाना खाने के लिए बैठते हैं तो भूख से भी अधिक खाना चाहते हैं ताकि भूख न लगे। खाने के आधा घंटा बाद कहते हैं कि पेट फटा जा रहा है, आंतें फट रही हैं। इस प्रकार हमारे यहां खाने की व्यवस्थित पद्धति नहीं है। भोजन के संबंध में हमारा अज्ञान ही बहुत-सारी समस्याओं को जन्म देता है। खाना जरूरी है, तो उसके साथ-साथ 'उपवास' और नहीं खाना भी जरूरी है।

उपवास सहिष्णुता का बड़ा प्रयोग है। जो उपवास करते हैं, उनमें सहज ही सहिष्णुता का विकास होता है और संकल्पशक्ति का विकास होता है। प्रतिदिन प्रातःकाल भोजन की मांग कम हो जाती है।

आयुर्वेद का विश्वास है कि सप्ताह में एक बार उपवास अवश्य होना चाहिए। आज हम उपवास के महत्त्व को भूल गए हैं और पश्चिम के लोग उपवास-चिकित्सा का प्रयोग करने लगे हैं। न जाने कितने वर्षों से चल रहा है। उपवास-चिकित्सा पर पश्चिम में जितनी अच्छी पुस्तकें निकली हैं, शायद भारत में नहीं निकलीं। उपवास प्रयोग है, अगर प्रयोग की दृष्टि से किया जाए। उपवास प्रयोग तब बनता है, जब पहले दिन हलका खाना खाया जाए और पारणा में हलका खाया जाए। तीन दिन बराबर यह चले। पहले दिन हलका भोजन, दूसरे दिन उपवास और तीसरे दिन फिर हलका भोजन, तब उपवास वास्तव में प्रयोग बनता है।

भगवान महावीर कहते हैं—'मृत्यु के समय तो तुम्हारा खाना छूटेगा ही, तब तुम दुखी न होओ, इसीलिए पहले ही खाना छोड़ने का अभ्यास रखो। पहले ही बिना भोजन के आनंद की अनुभूति का अभ्यास रखो।' इसका अर्थ देह का दमन नहीं है। यह देह की संज्ञा से ऊपर ऊठने की बात है, आत्मानुभूति की बात है। जब व्यक्ति को देह और आत्मा की भिन्नता की अनुभूति हो जाती है, तो उसके लिए तपस्या दुख की हेतु नहीं रहती, सुख की हेतु तो खैर रहेगी ही कहां से? तब वह आनंद की हेतु बन जाएगी। देह और आत्मा के भिन्नता की अनुभूति नहीं होती है तब तक खाना छोड़ने में डर लगता है। पर सही अर्थ में देखा जाए तो मनुष्य को दुख खाना छोड़ने में नहीं है, अपितु खाने में ही सुख मान लेने की संज्ञा में है। इस मिथ्यात्व का परिशोधन करने के लिए महावीर अनशन—उपवास की बात कहते हैं। उपवास कितना करना चाहिए—इसके विषय में वे कोई निश्चित मानदंड नहीं बताते हैं कि इतना उपवास करना पड़ेगा। जब तक मन में आनंद की अनुभूति हो तब तक उपवास करो। जो उपवास आनंद की अनुभूति नहीं कराता है, उसके लिए महावीर की अनुमति नहीं है। जो तपस्या देह और आत्मा की भिन्नता, पुद्गल-निरपेक्ष आनंद का अनुभव नहीं करा सके, वह वास्तव में तपस्या कम, देह-दंड अधिक है।

साधना की बात—बहुत-सारे लोग आसन-प्राणायाम से शुरू करते हैं। महावीर उसे अनाहार (अनशन) से शुरू करते हैं। संभवतः इसका कारण यही रहा होगा कि जब मनुष्य का आहार पर नियंत्रण हो जाएगा, तो बाकी के सब नियंत्रण तो सहज ही प्राप्त हो जाएंगे। इसलिए वे उपवास को बहुत अधिक महत्त्व देते हैं। इसके साथ दूसरा सवाल उठता है कि क्या बिना आहार के जीवन का काम चल सकता है? जैसे कि पहले कहा गया—महावीर की दृष्टि जीवन और मृत्यु पर नहीं है। आहार के साथ हमारा

इतना घनिष्ठ लगाव है कि हम उसके बिना रह नहीं सकते। महावीर सबसे पहले इस लगाव को ही तोड़ना चाहते हैं। ऐसा नहीं है कि एक दिन आहार न किया तो आदमी मर जाएगा। कठिनाई यही है कि आदमी का आहार के साथ इतना लगाव हो गया है कि उपवास की बात करते ही उसका सारा मानसिक ढांचा चरमरा जाता है।

उपवास का मूल्य : वैज्ञानिकों की दृष्टि में

डॉ. ज्होन कीथ बेडो द्वारा लिखित पुस्तक—'Stay young—Reduce your Rate of Aging' में अपने वैज्ञानिक प्रयोगों की चर्चा के दौरान बताया गया है कि—

1. उपवास वृद्धावस्था को रोकने का एक प्रमाणसिद्ध प्रयोग है। चूहों पर जब ये प्रयोग किए गए तो उसके आश्चर्यजनक परिणाम सामने आए। चूहों के एक दल को अत्यधिक भोजन की सुविधा दी गई, दूसरे दल को सामान्य, नियमित एवं नियंत्रित मात्रा में भोजन दिया गया तथा तीसरे दल को एक दिन भोजन (सामान्य एवं नियंत्रित मात्रा में) एवं एक दिन उपवास पर रखा गया। दूसरे दल के चूहे पहले से दीर्घजीवी हुए तथा तीसरे दल वाले दूसरे से भी बहुत अधिक दीर्घजीवी हुए।

2. उपवास के दौरान शरीर का 'इम्यूनालोजिकल सिस्टम' (प्रतिरोधक तंत्र) असंदिग्ध रूप से शक्तिशाली हो जाता है। इस तन्त्र में काम करने वाले रक्त के श्वेतकणों, जिन्हें 'फेगोसाइट्स' और 'लिंफोसाइट्स' कहा जाता है, की कार्यक्षमता में अद्भुत वृद्धि होती है। 'लिंफोसाइट्स' के दो प्रकारों—'बी-सेल्स' और 'टी-सेल्स', जो आगंतुक कीटाणु या विषाणुओं का प्रतिकार करते हैं, की कार्यक्षमता में वृद्धि होने से शरीर में जमा होने वाले विजातीय तत्त्वों का पूर्ण शोधन संभव हो पाता है। इन विजातीय तत्त्वों के जमाव का परिणाम ही है—कोशिकाओं का वृद्ध होना है—जो अंततोगत्वा मनुष्य को वृद्ध बना देती हैं।

3. कैंसर जैसी खतरनाक कोशिकाओं की सफाई में उपवास बहुत उपयोगी है।

डॉ. बेडो ने स्वयं साढ़े तीन वर्ष तक एकांतर उपवास करके यह पाया कि इससे स्वास्थ्य बहुत अच्छा रहता है। चूहों के प्रयोगों में यह बात भी सामने आई कि जहां तीसरे दल के चूहे दो वर्ष के बच्चों की तरह कूद-फांद मचा रहे थे, वहां पहले दल वाले बूढ़े की भांति शिथिल और थके-मांदे नजर आ रहे थे। डॉ. बेडो ने उपवास के दौरान शरीर में होने वाले जैव-रासायनिक परिवर्तनों के आधार पर उक्त निष्कर्ष निकाले हैं।

आजकल तो चिकित्सा के क्षेत्र में भी उपवास को मान्यता मिल गई है। जैन धर्म मूल में शरीर-विज्ञान नहीं है, वह तो आत्म-विज्ञान है, पर चूंकि हमारी आत्मा शरीर में रहती है; अतः वहां शरीर के संबंध में भी बहुत-सारी चर्चाएं हुई हैं।

जैन साधना-पद्धति का शरीर की पवित्रता के साथ निश्चित अनुबंध तो नहीं है, पर वे इस बात को भी स्वीकार करते हैं कि उच्चतम साधनाओं के लिए एक विशिष्ट प्रकार की शरीर-संरचना की आवश्यकता है। जैसा कि लुई हूक ने कहा है—स्वस्थ शरीर वही है, जो आवेगमुक्त हो। महावीर भी साधना के लिए आवेगमुक्त शरीर की आवश्यकता बताते हैं। जब तक शरीर आवेगग्रस्त होगा, तब तक उसमें स्वस्थ आत्मा का निवास न हो सकेगा। उपवास से आवेगों पर नियंत्रण प्राप्त किया जा सकता है।

उपवास-चिकित्सा

कुछ लोगों को यह सुनकर विस्मय हो सकता है—क्या उपवास से भी चिकित्सा हो सकती है? पर आज इस बात पर विस्मय करने की कोई गुंजाइश रही नहीं है। डॉ. एडवर्ड हुकर डेवी ने 'The Non-breakfast and Fasting Cure' नाम की एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिखी है। उनका कहना है—बीमारी में जबरदस्ती खाने और दवाएं लेने की अपेक्षा उपवास अधिक लाभप्रद है।

प्राकृतिक चिकित्सा की दृष्टि से लंबे तथा छोटे—दोनों ही प्रकार के उपवासों का विधान है। छोटे उपवास अर्थात् तीन दिन के उपवास। उससे ज्यादा दिनों के उपवास बड़े उपवास कहलाते हैं।

उपवास-काल में कभी-कभी भोजन की इच्छा, बेचैनी या कमजोरी महसूस हो सकती है, पर ये सारी स्थितियां अस्थाई हैं।

प्रो. दूहरिट ने अपनी पुस्तक 'Diet and Healing Systems' में लिखा है—उपवासकाल में जो कमजोरी महसूस होती है, वह भोजन का अभाव नहीं है, अपितु शरीर में एकत्र मल का विनाश होता है। शरीर की शुद्धि हो जाने के बाद शरीर में पुनः शक्ति आ जाती है। यह कोई जादू नहीं है, अपितु शरीर में स्थित विजातीय द्रव्यों के हट जाने का सहज प्रतिफल होता है।

साधारणतया लोगों की धारणा है कि भोजन की मात्रा जितनी अधिक होगी, उतनी ही शक्ति प्राप्त होगी। पर यह धारणा सर्वथा भ्रामक है। सच बात तो यह है कि हमारा स्वास्थ्य और दीर्घ जीवन भोजन की मात्रा की अपेक्षा उसके

पाचन की रासायनिक प्रक्रिया तथा आत्मसात् करने पर अधिक आधारित है।

अपनी जिह्वा के स्वाद तथा अप्राकृतिक आदतों के कारण हमारे शरीर में अनेक प्रकार का विजातीय कचरा इकट्ठा हो जाता है। उसके प्रभाव से मुक्त होने के लिए उपवास एक रामबाण ओषधि के समान है। साधारणतया लोग उपवास से डरते हैं। डॉक्टर लोग भी यही कहते हैं कि शरीर की शक्ति बनाए रखने के लिए कुछ-न-कुछ खाते रहना चाहिए। पर प्राकृतिक जीवन जीने वाले प्राणियों की ओर ध्यान दिया जाए तो यही लगेगा कि वे अपनी बहुत-सारी बीमारियां उपवास के द्वारा ही ठीक करते हैं। धीरे-धीरे इस ओर लोगों का ध्यान जा रहा है ; यह भी एक शुभ लक्षण है। उपवास के द्वारा अनेक रोगों से मुक्त हुआ जा सकता है। यह आपको क्षीण करने वाला नहीं है, अपितु तेजस्विता प्रदान करने वाला है।

डॉ. लक्ष्मीनारायण शर्मा ने अपनी पुस्तक 'सरल प्राकृतिक चिकित्सा' में उपवास के विषय में अनेक महत्त्वपूर्ण बातें लिखी हैं, जो संक्षेप में इस प्रकार हैं—

क्या करता है उपवास शरीर में

शरीर में स्वाभाविक रूप से अनेक प्रकार की ज्वलन-क्रिया (कंबश्चन) होती रहती है। ज्वलन-क्रिया के कारण ही हमारा शरीर एक खास तापक्रम तक गरम रहता है। इसे तेजस् शरीर भी कहा जा सकता है। लेकिन ज्वलन-क्रिया जारी रखने के लिए हमेशा ईंधन की जरूरत होती है। साधारण रूप में हमें यह ईंधन भोजन के 'कार्बोहाइड्रेट्स' और 'चर्बी' (चिकनाई) से मिलता रहता है। लेकिन उपवासकाल में जब बाहर से भोजन मिलना बंद होता है, तो शरीर में संगृहीत पदार्थ इस अग्नि में जलने लगता है। इसीलिए उपवास द्वारा 'चर्बी' बहुत जल्दी कम हो जाती है। केवल 'चर्बी' ही नहीं जलती—पेशियां, रक्त और जिगर में से संगृहीत शक्कर भी आकर जलती है। प्रत्येक ऊतक (टिशू) से संगृहीत भोजन आकर जलने लगता है और इस संगृहीत भोजन के साथ प्रत्येक धातु की संगृहीत गंदगी (विजातीय द्रव्य) भी उखड़कर आती है और उस ज्वलन-क्रिया में भस्म हो जाती है। इसीलिए यह कहा जाता है कि उपवास शरीर की भीतरी गंदगी का नाश कर देता है।

शरीर की जमा पूंजी खत्म होने के कारण उपवास काल में शरीर का वजन प्रायः एक पौंड प्रतिदिन के हिसाब से कम हो जाता है। शरीर की विभिन्न धातुएं इस अनुपात से छीजती हैं। 'चर्बी' 97 प्रतिशत, जिगर 62 प्रतिशत, तिल्ली 57 प्रतिशत, मांसपेशियां 31 प्रतिशत, मस्तिष्क या तंतु 0 प्रतिशत। इस छीजन के कारण उपवासकाल में शरीर में कुछ कमजोरी आती है, लेकिन चूंकि मस्तिष्क बिल्कुल नहीं छीजता, इसलिए सोच-विचार की शक्ति बढ़ती है, नींद अच्छी आती है, विचार सात्त्विक होने लगते हैं, स्मरणशक्ति बहुत तेज हो जाती है।

शारीरिक कमजोरी इस कदर नहीं होती है कि उपवासकर्ता को खाट पर ही लेटे रहना पड़े, बल्कि बहुत साधारण-सी दुर्बलता आती है। व्यक्ति घूम-फिर सकता है, अपने दैनिक काम बड़े मजे से कर सकता है। उपवास में प्रातःकालीन घूमना बहुत लाभकर है।

भ्रमण से लौटने के बाद शक्ति और स्फूर्ति का अनुभव होता है। अनेक व्यक्ति तो टहलने के बाद हल्का व्यायाम भी करते हैं। लेकिन व्यायाम कोई जरूरी नहीं—टहलना ही काफी है। एक सप्ताह तक के छोटे उपवासों में तो दफ्तर या दूकान का काम भी आसानी से किया जा सकता है। अलबत्ता लंबे उपवासों (30-40-50 दिन) में फिर भी आराम की जरूरत होती है; लेकिन कमजोरी की परेशानी तब भी नहीं महसूस होती। यदि उपवासकर्ता उपवास के महत्त्व को अच्छी तरह समझता है और उपवास पर उसकी आस्था है, तो उसे प्रायः उपवास में कोई दुर्बलता नहीं आती। अधिकांश लोगों में दुर्बलता न खाने के डर से पैदा होती है।

उपवासकाल में शुरू के दिन भूख सताती है, लेकिन यह असली भूख नहीं होती। क्योंकि तीसरे दिन यह भूख समाप्त हो जाती है। भूख के समय अधिक पानी पी लेने से उसका कष्ट मालूम नहीं होता। उपवास में दूसरे या तीसरे दिन जीभ पर सफेद मैल आ जाता है। कभी-कभी श्वास से बदबू भी आती है। दांतों में चिपचिपाहट पैदा हो जाती है। नए उपवासकर्ताओं को इन लक्षणों से भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए। ये लक्षण इस बात का सबूत होते हैं कि शरीर के विजातीय द्रव्य बाहर आ रहे हैं। फिर ये लक्षण अपने-आप ही दूर हो जाते हैं। ज्यों-ज्यों शरीर की अंदरूनी सफाई होती जाती है—शरीर में हल्कापन, स्फूर्ति, उत्साह और नीरोगता अनुभव होने लगती है।

विभिन्न रोग और उपवास

उपवास ऐसा उपचार है जो प्रायः सभी रोगों में अपना चमत्कारी प्रभाव दिखाता है। रोग चाहे नया हो अथवा पुराना, उपवास निश्चित रूप से उस पर काबू पा लेता है। हजारों 'केस' ऐसे होते हैं, जिन्हें डॉक्टर, हकीम असाध्य मानकर जवाब दे देते हैं। वे ही रोगी उपवास से

ठीक हो जाते हैं। दमा, बढ़ा हुआ रक्तचाप, बवासीर, एग्जिमा (चमला), मधुमेह आदि ऐसे रोग माने जाते हैं—जिनका कोई इलाज नहीं होता। लेकिन न मालूम इस तरह के कितने पुराने और असाध्य रोग जैसे फसली बुखार, टाइफाईड (मियादी बुखार), चेचक जैसे रोगों में भी उपवास अपना चमत्कारपूर्ण प्रभाव दिखाता है। अमेरिका के डॉ. एडवर्ड डेबी ने तो अपने बच्चे का 'डिप्थीरिया' जैसा घातक रोग उपवास से ठीक कर लिया था। कब्ज और कब्ज से पैदा होने वाले रोगों में तो उपवास से बहुत जल्दी लाभ होता देखा जाता है।

उपवास की अवधि

उपवास 2-3 दिन से लगाकर दो मास अथवा इससे भी अधिक दिनों का किया जा सकता है। एक सप्ताह तक का उपवास छोटा उपवास कहलाता है। सप्ताह से अधिक समय के उपवास लंबे उपवास की श्रेणी में आते हैं। उपवास की अवधि रोगों के अनुसार नहीं, बल्कि रोगियों की हालत के मुताबिक निश्चित की जाती है। रोग का पुराना या नयापन, रोगी के शरीर की शक्ति, रोगी के शरीर में रोग की गहराई तथा रोगी की मानसिक स्थिति आदि जांचकर ही उपवास की अवधि निश्चित की जाती है। यों नए रोगों में छोटे उपवास और पुराने रोगों में लंबे उपवास अपेक्षित होते हैं। प्रायः एक सप्ताह से कम के उपवास से कोई खास लाभ नहीं होता। फिर भी प्रारंभ करने वाले यदि शुरू में 3-4 दिन का उपवास करना चाहें, तो अनुभव प्राप्त करने की दृष्टि से यह ठीक होता है। लंबे से लंबा उपवास भी जब विधिवत् किया जाता है तो उससे कभी खतरा पैदा नहीं होता। अनेक व्यक्तियों ने दो-दो मास के उपवास सफलतापूर्वक किए हैं।

उपवास में सावधानी

उपवास में कभी-कभी खतरे और परेशानियां भी पैदा हो सकती हैं। यह बात सोलह आने ठीक है कि उपवास हर रोग को ठीक कर सकता है, लेकिन हर रोगी को नहीं। जिस रोगी की जीवनीशक्ति बहुत घट चुकी होती है, उसे उपवास से कोई लाभ नहीं होगा। जैसे टी. बी. के दूसरे या तीसरे दर्जे की हालत का रोगी और अंतिम दर्जे तक पहुंचा मधुमेह का रोगी। इसके अलावा दिल और गुर्दे की भी कई ऐसी पेचीदी बीमारियां होती हैं जिनमें उपवास से लाभ नहीं हो पाता। कुछ रोगियों की ऐसी दशाएं भी होती हैं जहां उपवास एकमात्र इलाज न होकर इलाज का एक अंग होता है।

उपवास का मूल्यांकन गलत न हो, इसलिए सावधानी रखनी चाहिए। जहां तक हो सके उपवास में खुले बदन धूप और हवा में बैठना चाहिए।

रूस के 'न्यूरोफिजियोलोजिस्ट अकेडेमिसियन' पियोत्र अनोखिन का मत है कि अनुभवी की देख-रेख में लंबे उपवास का प्रयोग पेट के अल्सर, दमा, मधुमेह आदि से मुक्ति पाने के लिए काफी उपयोगी उपाय है। शरीर-रचना की दृष्टि से उपवास एक प्रकार से 'शॉक ट्रीटमेंट' जैसा प्रयोग है। उससे नाड़ी-मंडलीय क्रिया-कलाप बढ़ जाता है। उपवास के तीसरे दिन से त्वचा में परिवर्तन दीखने लगता है; यह शरीर की प्रतिरक्षात्मक प्रक्रिया की अभिवृद्धि का द्योतक है। यह रोगी के 'पेथोलॉजिकल कॉम्प्लेक्स' पर क्रियाशील होता है। इस दिशा में रूस में अनेक केंद्रों पर कार्य हो रहा है। डॉ. अनोखिन का मत है कि चिकित्सा-क्षेत्र में उपवास से बड़ी संभावनाएं हैं। वे इस दिशा में और अधिक काम करने की अपेक्षा मानते हैं।

भगवान महावीर ने एक दिन के उपवास से लेकर छह महीने तक के उपवास को 'अनशन' की संज्ञा दी है। 'अनशन' शब्द आजकल भूख हड़ताल के चक्कर में पड़कर कुछ अवनत हो गया। महावीर इसके सर्वथा विरुद्ध हैं। वे शरीर की शुद्धि के लिए भी उपवास की उपयोगिता को सीमित करना नहीं चाहते। उनका लक्ष्य तो उससे बहुत ऊपर है। वे तो केवल आत्मदर्शन के लिए ही उपवास का समर्थन करते हैं। उन्होंने स्वयं दो दिन से लेकर छह महीने तक के लंबे उपवास किए। वे उपवासकाल में अपना अधिकांश समय आत्मचिंतन में या ध्यान में ही बिताते थे। यद्यपि उन्होंने स्वयं तो अपनी तपस्या बिना पानी, चौविहार ही की है, पर उनकी तपोयात्रा में पानी, पीकर भी तपस्या करने का विधान है। इस अवस्था में केवल गर्म पानी का ही उपयोग अधिक किया जाता है। गर्म पानी को कीटाणुरहित भी माना गया है।

भोजन में कमी (ऊनोदरी तप) :
अस्वाद-वृत्ति (वृत्तिसंक्षेप तप)

यदि कोई उपवास न कर सके, तो उसके लिए अन्य तपों का विधान किया गया है—जिनमें ऊनोदरी और वृत्तिसंक्षेप उल्लेखनीय हैं। ऊनोदरी का तात्पर्य है—भोजन में कमी करना, भूख से अधिक न खाना। भूख हो उससे एक-दो ग्रास भी कम करना ऊनोदरी है। खाद्य पदार्थों (द्रव्यों) की संख्या में कमी करना भी ऊनोदरी है। जैसे—पांच या सात पदार्थों से अधिक न खाना। अधिक 'द्रव्य' खाने का बुरा प्रभाव पाचन-क्रिया पर पड़ता है। दिन में बार-बार न खाना भी ऊनोदरी का एक प्रकार है। एक, दो या तीन बार से अधिक न खाना, दो बार के भोजन में भी बीच में तीन घंटे का अंतराल होना आदि भी ऊनोदरी के प्रयोग हैं।

वृत्तिसंक्षेप का अर्थ है—ऐसे विशेष संकल्प स्वीकार करना जिनसे अस्वाद-वृत्ति का विकास हो। जो कुछ सहजभाव से मिल जाए—उसे खाते समय स्वाद-भावना से मुक्त रहना वृत्तिसंक्षेप है। संकल्प का स्वीकार 'अभिग्रह' कहलाता है।

आधुनिक शरीरशास्त्र की दृष्टि से सामान्य रूप से स्वस्थ और साधारण श्रम करने वाले व्यक्ति को दिन-भर में 2500 'कैलोरी' ताप उत्पन्न करने वाले भोजन की आवश्यकता होती है। महावीर ने उसे 32 ग्रास की संज्ञा दी है। व्यक्ति की क्षमता के अनुसार उन्होंने इसमें कमी-बेसी का भी विधान किया है। पर मात्रा का यह विवेक मनुष्य का अपना होता है। जो व्यक्ति यह विवेक नहीं कर सकता, वह साधना के क्षेत्र में प्रवेश नहीं कर सकता।

महात्मा गांधी ने अपनी 'स्वास्थ्य साधना' नाम की छोटी-सी, पर महत्त्वपूर्ण पुस्तक में लिखा है—'पशु-पक्षियों का जीवन देखिए। वे कभी स्वाद के लिए नहीं खाते और न इतना अधिक ही खाते हैं कि पेट फटने लगे। वे केवल अपनी भूख मिटाने-भर ही खाते हैं, जो कि उन्हें प्राकृतिक रूप से मिल जाता है। वे कुछ भी नहीं पकाते। क्या यह अच्छी बात है कि मनुष्य केवल पेट की उपासना करे? क्या यह अच्छी बात है कि मनुष्य सदा रोगों का शिकार बनता रहे? वास्तव में यदि मनुष्य भी प्रकृति-प्रदत्त वस्तुओं को उसी रूप में खाए, भूख से अधिक न खाए, स्वाद के लिए न खाए—तो वह भी पशु-पक्षियों की तरह रोगमुक्त रह सकता है।'

अतिभोजन से आंत श्लथ हो जाती है। वह मल को आगे नहीं ढकेल पाती। इस प्रकार कोष्ठबद्धता हो जाती है। उससे चिंतन में कुंठा आती है। प्रसन्नता के लिए यह अनिवार्य है कि मल-संचय न हो। दो दिन तक खाना न खाया जाए तो भी आंतों को पचाने के लिए शेष रह जाता है, पर मल का उत्सर्ग न हो तो एक दिन में बेचैनी हो जाती है। आंतों में मल भरा रहने से अपान वायु का द्वार रुद्ध हो जाता है। फिर वह ऊपर जाती है और हृदय को धक्का लगाती है। जिसे हम सामान्यतः हृदय-रोग समझते हैं, बहुत बार यही होता है। अपने शरीर के तापमान से अधिक ठंडा और अधिक गर्म भोजन भी हानिप्रद होता है। उससे आंत और दांत दोनों विकृत होते हैं। भोजन का संबंध आवश्यकतापूर्ति से है, पर उसका संबंध जब स्वाद से हो जाता है, तब मर्यादा का अतिक्रम और विपर्यय होने लगता है।

अध्यशन-वर्जन

अध्यशन आहार का एक दोष है। पहले खाया हुआ पचा नहीं, उसी बीच और खाना अध्यशन है। संभव हो तो पांच घंटे, कम से कम तीन घंटे पहले-दूसरी बार अन्न न खाया जाए। यह सामान्य मर्यादा रही है। कुछ हल्के भोजन जल्दी पच जाते हैं, पर अन्न तीन घंटे पहले नहीं पचता। पचने से पूर्व खाने से घोल कच्चा ही रह जाता है। प्राचीन काल में भोजन दो बार किया जाता था, कभी-कभी तीन बार भी। किंतु आजकल इस सिद्धांत में परिवर्तन आ गया है। कई डॉक्टर थोड़ा-थोड़ा बार-बार खाने को कहते हैं। उनका आशय संभवतः हल्के भोजन से है। अल्सर जैसे रोग में बार-बार खाया जाता है।

आंध्रप्रदेश कृषि विश्वविद्यालय के डॉ. प्रो. सूर्यनारायण ने कहा है—'यह बात बिल्कुल सही है कि जिस व्यक्ति को अपने-आप को स्वस्थ बनाए रखने की इच्छा है उसे जिह्वा का दास नहीं बनना चाहिए और न उसे अंधाधुंध नियंत्रणहीन रूप में खाते ही रहना चाहिए। जो व्यक्ति अपने शरीर पर अवांछित दबाव नहीं डालता है वह निश्चय ही रोगमुक्त रहता है। पूरे रूप में शरीर को पोषण मिले, इसके लिए यह आवश्यक है कि भूख के बिना न खाया जाए। भोजन ठूंसते रहना मात्र ही उसका लक्ष्य नहीं होना चाहिए। दो भोजनों के बीच में काफी समय का अंतर रखते हुए थोड़ा कम खाना अच्छे स्वास्थ्य की गारंटी है।'

निश्चय ही उपरोक्त कथनों में ऊनोदरी तथा वृत्ति-संक्षेप का समर्थन मिलता है। अतः इस संबंध में सावधानी बरतनी चाहिए कि भोजन इतना ही किया जाय कि थोड़ी भूख बाकी रहे।

लुई अहोगाफाल्स, ओहियो में अपराधकर्मियों और भोजन के संबंध में शोधकार्य प्रारंभ किया गया है। वहां अपराधकर्मियों की जांच की जाती है कि वे 'हाइपरग्लाईसीमिया'—खून में शक्कर के रोग से ग्रस्त तो नहीं हैं। इससे ग्रस्त होने पर व्यक्ति में चिड़चिड़ापन आ जाता है। वह शंकालु प्रवृत्ति का हो जाता है और यदा-कदा 'हाइपरग्लाईसीमिया'–जनित अपराधों में प्रवृत्त हो जाता है—यथा—मारपीट, यौन अपराध तथा कानून का उल्लंघन आदि। ऐसे व्यक्तियों के भोजन में परिवर्तन कर दिया जाए। मीठी चीजें तथा स्टार्च वाली चीजें बंद कर दी जाएं तो उसकी प्रवृत्तियों में परिवर्तन हो जाता है। चीन के एक विख्यात दार्शनिक लिङ ताङ ने बिल्कुल सच कहा है—'हमारा जीवन भगवान पर आश्रित नहीं है, वह हमारे रसोइयों पर आश्रित है।'

रात्रि-भोजन का परिहार

भोजन के संबंध में रात्रि-भोजन नहीं करना, यह भी महावीर की एक विशेष सूचना है। रात्रि-भोजन से अंधकार

में बहुत-सारे जीव-जंतुओं की हिंसा की संभावना तो होती ही है, पर इसके अतिरिक्त पाचन की दृष्टि से भी इसकी अनुपयोगिता है। दिन रहते-रहते खाने से सूरज की गर्मी का भोजन के पाचन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। अच्छे पाचन के लिए मस्तिष्क का क्रियाशील और सचेत रहना आवश्यक है तो अच्छी नींद के लिए खाली पेट रहना भी आवश्यक है। यह शरीर-विज्ञान के संबंध में एक सर्वसम्मत नियम है। इस दृष्टि से दिन रहते-रहते खा लेना एक स्वास्थ्यकर नियम भी बन जाता है। जो लोग रात में देर से भोजन करते हैं और फिर सो जाते हैं, वे अपने शरीर के साथ जबरदस्ती करते हैं।

प्रश्न है कि जैन-परंपरा में रात्रि-भोजन को अस्वीकार क्यों किया? भला, भूख के लिए भी कोई समय निर्धारित होता है? यर्थाथता यह है कि जब भूख लगे तब भोजन खा लो। यह एक नियम ही पर्याप्त है। भूख के लिए क्या दिन और क्या रात? और क्या प्रकाश और क्या अंधकार?

रात्रि-भोजन न करना धर्म से संबंधित तो है ही, क्योंकि यह धर्म के द्वारा प्रतिपादित हुआ है। इसके साथ इस निषेध का एक वैज्ञानिक कारण भी है। हम जो भोजन करते हैं, उसका पाचन होता है तैजस् शरीर के द्वारा। उसको अपना काम करने के लिए सूर्य का आतप आवश्यक होता है। जब उसे सूर्य का प्रकाश नहीं मिलता तब वह निष्क्रिय हो जाता है, पाचन कमजोर हो जाता है। इसलिए रात को खाने वाला अपच की बीमारी से बच नहीं सकता। यह वैज्ञानिक कारण है।

दूसरा कारण है कि जब सूर्य का आतप होता है तब कीटाणु बहुत सक्रिय नहीं होते हैं। बीमारी जितनी रात में सताती है, उतनी दिन में नहीं सताती। उदाहरणार्थ—वायु का प्रकोप रात में अधिक होता है। ये सारी बीमारियां रात में इसलिए सताती हैं क्योंकि रात में सूर्य का प्रकाश और ताप नहीं होता। जब वे होते हैं, तब बीमारियां उग्र नहीं होतीं।

रस-परित्याग

इसके अतिरिक्त महावीर भोजन में जिस एक बात पर और जोर देते हैं—वह है रस-परित्याग। रस-परित्याग का सामान्य अर्थ है—दूध, दही, घी, चीनी, मिठाई तथा तेल—इन छह विकृतियों (विगयों) का परित्याग। विकृति शब्द प्रकृति का विलोम है। जब महावीर विकृति शब्द का प्रयोग करते हैं, तो निश्चय ही उनका संकेत प्रकृति की ओर है। प्राकृतिक भोजन सहज मन के लिए भी उत्तेजनारहित है। वृत्तियों में उत्तेजना न आए, इसके लिए वे बार-बार रूखे-सूखे नीरस भोजन की याद दिलाते हैं। इसी दृष्टि से वे विकृतियों के परित्याग की बात कहते हैं। वे न केवल शरीर को उपचित ही करती हैं, पर विकारों को भी जन्म देती हैं। इसीलिए वे कहते हैं—

'रसा पगामं न निसेवियव्वा।
मुत्ता-रसा दित्तिकरा नराणं,
दित्तं च कामा समभिद्दवंति,
दुमं जहा साउफलं व पक्खी।।'

—प्रकाम रसों का निषेवन मत करो। वे मनुष्य के लिए उत्तेजक हैं। वे मनुष्य को उसी तरह से परेशान करते हैं जैसे मधुर फलोंवाले वृक्ष को पक्षी।

पर इसका यह मतलब नहीं कि वे एकदम नीरस आहार के समर्थक तथा रसपूर्ण आहार के विरोधी हैं। आवश्यकतानुसार रसपूर्ण आहार के लिए भी उनका निषेध नहीं है। पर व्यक्ति को उसके संतुलन का बोध अवश्य होना चाहिए।

कुछ लोगों का खयाल है कि स्वास्थ्य की रक्षा के लिए घी, दूध आदि की आवश्यकता है। संतुलित भोजन की दृष्टि से एक हद तक इनकी आवश्यकता हो सकती है। पर दीर्घ और स्वस्थ जीवन पर शोध से इस बात का पता चला है कि उसका मुख्य राज सीधा-सादा भोजन ही है। आज दक्षिणी अमेरिका की पहाड़ियों तथा घाटियों में जॉर्जिया आदि के गांवों में अनेक शतायु व्यक्ति मिलते हैं। उनसे बातचीत करने पर यह पाया गया है कि उनके जीवन का रहस्य सीधा-सादा भोजन तथा तनावमुक्त जीवन है। यद्यपि वे यह नहीं बता पाते कि उनकी उम्र कितनी है, पर 'न्यूयार्क अकादमी ऑफ मेडिसिन' के डायरेक्टर ने अनेक लोगों की शताधिक आयु को स्वीकार किया है।

नई शोधों के आधार पर शरीरशास्त्र में यह स्थिर हो गया है कि अधिक चिकनाई का प्रयोग स्वास्थ्य के लिए खतरनाक है। यदि चिकनाई 40 प्रतिशत कैलोरी से ज्यादा हो जाए तो मोटापा, हृदय-रोग, उच्च रक्तचाप, मधुमेह आदि बीमारियों की आशंका बढ़ जाती है। कई अध्ययनों से यह भी पता चला है कि भोजन में अधिक चिकनाई तथा सीने और आंतों के कैंसर में पारस्परिक संबंध है। 'सेचुरेटेड' चिकनाई का अधिक प्रयोग भी उचित नहीं है।

तली हुई चीजें भी हमारे पाचन-तंत्र को क्षति पहुंचाती हैं। बहुत-सारे लोग बहुत-सारी चीजों को केवल स्वाद की दृष्टि से ही खाते हैं। मिर्च-मसाले, हींग आदि ऐसी अनेक चीजें आदमी के भोजन में प्रविष्ट हो गई हैं, जिनकी शरीर के

लिए उतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी जीभ के लिए है। दाल, शक्कर, घी का उपयोग कम-से-कम किया जाना उत्तम स्वास्थ्य के लिए जरूरी है। स्वास्थ्यपूर्ण भोजन में रासायनिक खाद्यों का भी निषेध है। जिस अन्न में समस्त खनिज-लवण स्वाभाविक हों वही पूर्ण स्वास्थ्यप्रद भोजन है।

चीनी और नमक पर नियंत्रण

चीनी, नमक और चिकनाई—ये तीनों भोजन के अनिवार्य अंग बने हुए हैं। इनके कारण अनेक रोग उत्पन्न होते हैं—यह सब नहीं जानते। हृदय की बीमारी के लिए तीनों निषिद्ध माने जाते हैं। बहुत चीनी का प्रयोग भी न हो, बहुत चिकनाई का प्रयोग भी न हो और नमक का प्रयोग सर्वथा न हो तो बहुत अच्छा है। शक्ति के लिए चीनी आवश्यक होती है, किंतु यह सफेद चीनी नहीं। चीनी तो सहज प्राप्त होती है। दूध में चीनी होती है। फिर दूसरी चीनी की जरूरत क्या है?

इसी प्रकार चीनी के विषय में 'साइन्स रिपोर्ट' अगस्त, 1976 में श्री आई. रघुनाथन ने लिखा है—इस शताब्दी के प्रारंभ से हमारे भोजन की आदतों में बड़े महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। पहले 'कार्बोहाइड्रेट' पदार्थ शक्ति के मुख्य स्रोत थे। आज उनका स्थान चीनी ने ले लिया है। इसके पीछे कारणरूप हल्के पेयों (Soft drinks) में लोगों की रुचि का अत्यधिक बढ़ना है। चीनी की खपत के इस रूप में बढ़ने के गंभीर परिणाम हो सकते हैं। इसमें सबसे प्रमुख बात तो यह है कि चीनी में पोषण-तत्त्व नगण्य-सा है। फिर भी यह पोषक आहारों पर हावी होती जा रही है।...आज अमेरिका के भोजन में औसत 40 प्रतिशत कैलोरी चीनी से प्राप्त होती है। पर हल्के पेय, तैयार मिठाइयों आदि का प्रयोग कम करके उसे मात्र 15 प्रतिशत कैलोरी चीनी से प्राप्त करनी चाहिए।

हमारे शरीर को जो शर्करा (ग्लुकोज) चाहिए वह बाजार में मिलने वाली चीनी में बहुत कम है। दानेदार शर्करा में जो मिठास होती है वह हमारे शरीर में सीधे काम नहीं आती। उसे पचाने के लिए उल्टा हमारे शरीर-तंत्र को काम करना पड़ता है। इसीलिए वह लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक करती है।

नमक का ज्यादा प्रयोग भी स्वास्थ्य को कमजोर बनाता है। इस सलाह के पीछे मुख्य आधार यह है कि नमक कुछ लोगों के रक्तचाप को बढ़ा देता है। लगभग 20 प्रतिशत लोग, जिनमें बच्चे भी शामिल हैं—उच्च रक्तचाप से पीड़ित रहते हैं। कुछ अध्ययनों से यह सिद्ध हुआ है कि अधिक नमक खाने से हृदय-रोग, पेट के कैंसर, सिरदर्द आदि की आशंका रहती है। तीन ग्राम नमक से ज्यादा नमक मनुष्य के लिए अनावश्यक है और इतना नमक तो खाद्य-पदार्थों में बिना अतिरिक्त नमक मिलाए ही प्राप्त हो जाता है।

यदि नमक का प्रयोग कम हो जाए तो दस-बीस प्रतिशत बीमारियां भी कम हो जाएं। नमक के कारण लोग ज्यादा खाते हैं। कृत्रिम स्वाद पैदा कर हमने नमक को भोजन का प्रधान तत्त्व मान लिया जिससे जीभ को स्वाद मिले, डॉक्टरों को संरक्षण मिले, उनका धंधा चले और बीमारियां अच्छी तरह से पलें। नमक छोड़ना केवल साधना का प्रयोग ही नहीं, स्वास्थ्य का प्रयोग भी है। यदि पूरे सप्ताह में सात दिन नमक न छोड़ सकें तो एक, दो, तीन दिन ही छोड़ कर देखें। यह प्रियता और अप्रियता से बचने का प्रयोग होगा, संकल्प-शक्ति का प्रयोग होगा तथा साथ-साथ स्वास्थ्य का भी प्रयोग होगा। हृदय-रोग की संभावना कम होगी, अन्तर्व्रण (कैंसर) की संभावना कम होगी। नमक कृत्रिम ढंग से उत्तेजना पैदा करता है, रक्त को अद्रव बनाता है। जब वह उत्तेजना नहीं होगी, मानसिक शांति में भी सहयोग मिलेगा। नमक का प्रयोग साधना के लिए वर्जित होता है और स्वास्थ्य के लिए यह विघ्न है।

कुछ प्रयोग

आयंबिल तपस्या एक प्रयोग है जिसमें कोरा एक धान्य और पानी चलता है। आयंबिल का प्रयोग अनेक बीमारियों को मिटाने वाला प्रयोग है। भयंकर बीमारियां आयंबिल से नष्ट होती हैं। पक्षाघात की बीमारी बहुत भयंकर बीमारी होती हैं, किंतु आयंबिल के द्वारा ठीक हो जाती है। अजीर्ण और अपच की बीमारी इससे ठीक होती है। एक साथ ज्यादा वस्तुएं खाने से बहुत बीमारियां होती हैं और एक अनाज खाने से पाचन-शक्ति को बहुत राहत मिलती है।

एक वस्तु पेट में जाती है तो पचाने में सुविधा होती है और अनेक वस्तुएं एक साथ पेट में जाती हैं तो उन्हें पचाने के लिए अधिक शक्ति लगानी पड़ती है। आयंबिल में नमक का भोजन नहीं होता।

एक प्रयोग यह भी हो सकता है—कभी अलग-अलग खाया जाए। रोटी अलग, सब्जी अलग; क्योंकि साग जरूरी होता है, यह तो ठीक बात है, पर इससे तो फर्क नहीं पड़ेगा कि अलग-अलग खाया जाए, पूर्ति तो हो जाएगी। अलग खाने का मतलब है—अस्वाद का प्रयोग और साथ-

साथ स्वास्थ्य का भी बहुत बड़ा प्रयोग हो जाएगा। रोटी के साथ सब्जी खाते हैं तो पूरा चबाया नहीं जाता। स्वास्थ्य का मूल सिद्धांत है कि भोजन को जितना चबाया जाए उतना ही अच्छा है।

एक बात तो जरूर है कि जो इतना चबाए तो उसे ज्यादा खाने की जरूरत भी नहीं पड़ती। पांच रोटियां जो काम नहीं करतीं, एक-डेढ़ रोटी उतना काम कर सकती है—अगर उतना चबाया जाए। नहीं चबाने का परिणाम होता है कि दांत भी खराब होते हैं और आंत भी खराब होती है। दांत और आंत दोनों के साथ शत्रुता का पोषण करना हो तो चबाना छोड़ दो।

जिन लोगों ने बिना सब्जी के कभी गेहूं की रोटी नहीं खाई, उन्हें पता ही नहीं कि गेहूं का स्वाद कैसा होता है? बिना साग के गेहूं की रोटी खाकर देखें, पता चलेगा कि गेहूं कितना मीठा होता है, कितनी मिठास है गेहूं में! इतना मीठा होता है कि फिर चीनी डालने की बात ही नहीं आती। ❖

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, शाखा कार्यालय, गंगाशहर

उपासक प्रशिक्षण शिविर

प्रतिवर्ष की भांति इस वर्ष भी उपासक प्रशिक्षण शिविर का आयोजन महासभा द्वारा दिनांक 23-8-2002 से 31-8-2002 तक अहमदाबाद में परमाराध्य आचार्यश्री महाप्रज्ञजी एवं युवाचार्यश्री महाश्रमणजी के पावन सान्निध्य में किया जा रहा है।

इस शिविर का मुख्य उद्देश्य है प्रशिक्षित उपासक तैयार करना जो केंद्र द्वारा निर्दिष्ट क्षेत्र में जाकर पर्युषण पर्व की आराधना करवाने में श्रावक-समाज का सहयोगी बन सके। विशेषकर उन क्षेत्रों में जहां साधु-साध्वियों का चातुर्मास नहीं होता। ऐसे क्षेत्र, पर्युषण पर्व की आराधना हेतु उपासकों को भिजवाने का निवेदन महासभा अथवा केंद्र में कर सकते हैं, जिसके आधार पर उपासकों को भिजवाने की व्यवस्था यथासंभव केंद्र द्वारा की जाती है।

ऐसे श्रावक जो तेरापंथ धर्मसंघ के प्रति आस्थावान हों, जिनमें तत्त्वज्ञान, जैन इतिहास की प्राथमिक जानकारी हो व कंठस्थ ज्ञान में अर्हतवंदना, परमेष्ठी-वंदना, पंचपदवंदना, प्रतिक्रमण, पच्चीसबोल आदि याद हों, परिषद् के बीच बोलने व गाने की क्षमता हो, जो स्वस्थ एवं श्रमशील हों तथा पर्युषण पर्व आराधना करवाने हेतु 25 दिन का समय संघ-सेवा में देने की स्थिति में हों, उन्हें इस उपासक शिविर में भाग लेने हेतु महासभा आमंत्रित करती है।

इस शिविर में भाग लेने वाले पुरुषों के लिए आयु सीमा 25वें वर्ष से लेकर 60 वर्ष तक व महिलाओं की आयु सीमा 30वें वर्ष से 55 वर्ष तक होनी चाहिए।

शिविर में भाग लेने वालों के लिए आवास, भोजन, साहित्य व प्रशिक्षण का समुचित प्रबंध महासभा की ओर से निःशुल्क किया जाएगा। पहले से भाग ले चुके उपासकों के पास जो साहित्य है, वे उसे अपने साथ अवश्य लाएं।

उपासक योजना की और अधिक जानकारी हेतु महासंभा के गंगाशहर कार्यालय से पत्र-व्यवहार कर सकते हैं।

सुमेरमल सुराणा
राष्ट्रीय प्रभारी, उपासक मंडल

निर्मलकुमार नौलखा
राष्ट्रीय सह-प्रभारी, उपासक मंडल

लेश्या : मनोवैज्ञानिक विवेचना

डॉ. पारसमणि खीचा

मनोविज्ञान के साथ-साथ लेश्या-सिद्धांत का रसायनशास्त्रीय महत्त्व भी है। जैनागमों में मनुष्य के चिंतन को रसायन भी कहा गया है। इसलिए वहां चित्त-परिवर्तन को रसायन-परिवर्तन कहा जाता है। रसायनशास्त्र का अंग्रेजी पर्याय 'केमस्ट्री' शब्द सही अर्थ में रसायन का अनुवाद नहीं है। रसायन शब्द का समानार्थी शब्द 'अलकेमि' है। रंग-विज्ञान के साथ अगर लेश्या-सिद्धांत की तुलना की जाए तो कई आश्चर्यजनक तथ्य उभरकर आएंगे। इन तथ्यों का संबंध मनुष्य के चित्त और उसमें होने वाली परिवर्तनपरक हलचल से है।

•

लेश्या का सिद्धांत मानवीय मनोविज्ञान को समझने की एक सशक्त प्रक्रिया है जिसे मनो-रासायनिक स्तर पर हजारों वर्ष पूर्व जैनागमों ने विश्लेषित किया है। आवश्यकता है वर्तमान मनोविज्ञान और रंग-विज्ञान के संदर्भ में इसके व्यापक और विशद अनुसंधान की, जिससे जैनागमों और मनोविज्ञान के क्षेत्र में नए क्षितिज उभारे जा सकें।

जैन पारिभाषिकी का महत्त्वपूर्ण शब्द है 'लेश्या'। मूल जैनागमों में कई स्थानों पर लेश्या शब्द की चर्चा मिलती है। स्थानांग सूत्र के परिप्रेक्ष्य में लेश्या-सिद्धांत का वैज्ञानिक वर्णन प्राप्त होता है। अन्य आगम ग्रंथों में, जहां प्रसंग-विशेष में ही लेश्या शब्द का प्रयोग हुआ, वहीं स्थानांग सूत्र में स्वतंत्र रूप से लेश्या पद होने से इस सिद्धांत की उपादेयता व महत्ता सहज ही ध्यान में आ जाती है। स्थानांग सूत्रकार ने प्रथम स्थान में ही लेश्या पद को समाहित करके इसके महत्त्व को सहज ही अभिचिह्नित कर दिया है।

लेश्या : अर्थ निर्वचन

धर्मशास्त्रों का अध्ययन करने से हम पाते हैं कि अधिकांश शब्दों का धर्मशास्त्रों में आदान-प्रदान दिखाई देता है। केवल लेश्या ही एक ऐसा शब्द है जो जैन आगम ग्रंथों के अतिरिक्त कहीं देखने को नहीं मिलता। जैन दृष्टि में इस अनुपम शब्द का अर्थ भी बहुत गूढ़ रूप से प्रकट हुआ है। जैन आगम ग्रंथों के अनुसार जिस योग प्राणिति के द्वारा जीव कर्म से लिप्त होता है—उसे ही लेश्या कहते हैं। 'लिश्यते प्राणि यथा सालेश्या'—कहकर नवांगी टीकाकार आचार्य अभयदेव सूरी ने उपर्युक्त परिभाषा को प्रज्ञापना की वृत्ति के उद्धरण के द्वारा पुष्ट करते हुए समर्थन किया है। कुछ दूसरे आचार्य कर्मों के निश्चित कर्मफल रस को लेश्या कहते हैं। अधिकांश जैन व्याख्या ग्रंथों में आचार्य अभयदेव के मत का ही समर्थन किया है, क्योंकि आठों कर्मों का और उनकी उत्तर प्रकृतियों का फल-रूप-रस भिन्न-भिन्न होने के कारण सभी कर्मों के रस को लेश्या नहीं कहा जा सकता है।

तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो लेश्या का समानार्थी शब्द पतंजलि के योग सूत्र में वर्णित—'चित्तवृत्ति' है।

मनुष्य के स्वभाव की किसी प्रवृत्ति-विशेष को चित्तवृत्ति कहा गया है। योग सूत्रकार की दृष्टि में इनकी कोई संख्या निर्धारित नहीं है। इसी तरह का वर्णन आचारांग सूत्र में भी जैनाचार्यों ने किया है—'अनेगचित्ते खलु अयं पुरिसे' अर्थात् पुरुष की अनेक चित्तवृत्तियां होती हैं। स्थानांग सूत्र के सूत्र—लेश्या वर्णन को भी मनुष्य के चित्त से परिभाषित कर सकते हैं। हर मनुष्य की एक स्वतंत्र लेश्या अर्थात् भावदशा होती है। जैनागमों के इस सिद्धांत का अगर व्यक्तित्व-मनोविज्ञान के संदर्भ में मूल्यांकन किया जाए तो 'व्यक्तित्व निपुण' जैसी नई विधि को सामने लाया जा सकता है।

पतंजलि और आचारांग में श्रमण चित्तवृत्तियों की किसी संख्या-विशेष का निरूपण नहीं करते हैं। किंतु स्थानांग सूत्र में लेश्याओं का वैज्ञानिक वर्गीकरण

छह भागों में बांटकर किया गया है, ये छह लेश्याएं हैं—1. कृष्णलेश्या, 2. नीललेश्या, 3. कापोतलेश्या, 4. तेजोलेश्या, 5. पद्मलेश्या, 6. शुक्ललेश्या।

वैसे तो स्थानांग में समस्त जीव-सृष्टि, जिसमें नारक और तिर्यंच भी शामिल हैं, को सामने रखकर लेश्या वर्णन किया है। किंतु हमारा अभीष्ट मानवीय—मनोवैज्ञानिक होने के कारण यहां केवल मनुष्य-स्वभाव के संदर्भ में ही इस सिद्धांत का अनुशीलन करेंगे। इन छह लेश्याओं को द्रव्य-लेश्या, और भाव-लेश्या के रूप में भी विवेचित किया है। द्रव्य-लेश्या को हम मनोविज्ञान की भाषा में चेतन मन और भाव-लेश्या को अचेतन मन की संज्ञा दे सकते हैं। द्रव्य-लेश्या मनुष्य के मानस को प्रभावित करने वाले वे बाह्य उपागम हैं जो मनुष्य के चित्त को परिवेश और वातावरण से प्राप्त होते हैं। भाव-लेश्या द्रव्य-लेश्या के द्वारा संचालित होती है, किंतु भाव-लेश्या ही मूलरूप से मनुष्य के मन और उसकी मानसिक अभिवृत्तियों की नियामक है।

छह लेश्याओं का क्रमशः स्वरूप इस तरह है—

कृष्णलेश्या—कृष्णवर्ण नामकर्म के उदय से जीवन के शरीर का भौंरे के समान काला होना द्रव्य-कृष्णलेश्या है। क्रोधादि कषायों के तीव्र उदय से अति प्रचंड स्वभाव होना, दया-धर्म से रहित हिंसक कार्यों में प्रवृत्ति होना, उपकारी के साथ भी दुष्ट-व्यवहार करना और किसी के वश में नहीं आना—भाव-कृष्णलेश्या है। इस लेश्या वाले के भाव वृक्ष को देखकर उसे जड़ से उखाड़कर फल खाने जैसे होते हैं।

नीललेश्या—नीलवर्ण नामकर्म के उदय से जीव के शरीर का मयूर-कंठ के समान नीला होना द्रव्य-नीललेश्या है। इंद्रियों में विषयों की तीव्र लोलुपता होना, हेय-उपादेय के विवेक से रहित होना, मानी, मायाचारी, आलसी होना, धन-धान्य में तीव्र गृध्रता होना, दूसरों को ठगने की प्रवृत्ति होना, ये सब भाव नीललेश्या के लक्षण हैं। इस लेश्या वाले के भाव फले वृक्ष की बड़ी-बड़ी शाखाएं काटकर फल खाने जैसे होते हैं।

कापोतलेश्या—मंद अनुभाग वाले कृष्ण और नीलवर्ण के उदय से सम्मिश्रण-रूप कबूतर के वर्ण-समान शरीर का वर्ण होना द्रव्य-कापोतलेश्या है। जरा-जरा-सी बातों पर रुष्ट होना, दूसरों की निंदा करना, अपनी प्रशंसा करना, दूसरों का अपमान कर—अपने को बड़ा बताना, दूसरों का विश्वास नहीं करना और भले-बुरे का विचार नहीं करना—ये सब भाव कापोतलेश्या के लक्षण हैं। इस लेश्या वाले के भाव फलवान वृक्ष की छोटी-छोटी शाखाएं काटकर फल खाने जैसे होते हैं।

तेजोलेश्या—रक्तवर्ण नामकर्म के उदय से शरीर का लाल वर्ण होना—द्रव्य-तेजोलेश्या है। कर्तव्य-अकर्तव्य और भले-बुरे को जानना, दया, दान करना और मंद कषाय रखते हुए सबको समान दृष्टि से देखना, ये सब भाव तेजोलेश्या के लक्षण हैं। इस लेश्या वाले के भाव फलों से लदी टहनियां तोड़कर फल खाने जैसे होते हैं।

पद्मलेश्या—पीत और रक्त नामकर्म के उदय से दोनों वर्णों के मिश्रित मंद उदय से गुलाबी कमल जैसा शरीर का वर्ण होना द्रव्य-पद्मलेश्या है। भद्र परिणामी होना, साधुजनों को दान देना, उत्तम धार्मिक कार्य करना, अपराधी के अपराध क्षमा करना, व्रत-शीलादि का पालन करना—ये सब भाव पद्मलेश्या के लक्षण हैं। इस लेश्या वाले के भाव फलों के गुच्छे तोड़कर फल खाने जैसे होते हैं।

शुक्ललेश्या—श्वेत नामकर्म के उदय से शरीर का धवल वर्ण या गौर वर्ण होना द्रव्य-शुक्ललेश्या है। किसी से राग-द्वेष नहीं करना, पक्षपात नहीं करना, सबमें समभाव रखना, व्रत, शील, संयमादि को पालना और किसी की निंदा नहीं करना—ये भाव शुक्ललेश्या के लक्षण हैं। इस लेश्या वाले के भाव नीचे गिरे हुए फलों को खाने जैसे होते हैं।

देवों और नारकों में तो भाव-लेश्या एक अवस्थित और जीवनपर्यंत स्थायिनी होती है। किंतु मनुष्यों और तिर्यंचों में छहों लेश्याएं अनवस्थित होती हैं और वे कषायों की तीव्रता-मंदता के अनुसार अंतर्मुहूर्त में बदलती रहती हैं।

प्रत्येक भाव-लेश्या के जघन्य अंश से लेकर उत्कृष्ट अंश तक असंख्यात भेद होते हैं। अतः स्थाई लेश्या वाले जीवों की वह लेश्या भी काषायिक भावों के अनुसार जघन्य से लेकर उत्कृष्ट अंश तक यथासंभव बदलती रहती है।

'जल्लेस्से मरइ. लल्लेस्से उप्पज्जइ' इस नियम के अनुसार जो जीव जैसी लेश्या वाले परिणामों में मरता है, वैसी ही लेश्या वाले जीवों में उत्पन्न होता है।

उपर्युक्त छह लेश्याओं में से कृष्ण, नील और कापोत—ये तीन अशुभ लेश्याएं कही गई हैं तथा तैजस्, पद्म और शुक्ल—ये शुभ लेश्याएं मानी गई हैं।

प्रकृत लेश्या पद में जिन-जिन जीवों की जो-जो लेश्या समान होती हैं, उन-उन जीवों की समानता की दृष्टि से एक वर्गणा कही गई है।

इन छहों लेश्याओं के स्वरूपकथन से दो महत्त्वपूर्ण तथ्य उभरकर आते हैं। स्थानांग सूत्र के अनुसार ये अवस्थित और अनवस्थित होती हैं। अवस्थित से अर्थ है जो लेश्या जीवनपर्यंत बनी रहती है। जो लेश्या तीव्र-मंद होती रहती है—वह अनवस्थित कहलाती है। मनुष्य का स्वभाव क्षण-क्षण परिवर्तनशील होने के कारण वह अनवस्थित लेश्या के अंतर्गत आता है।

मनोविज्ञान के साथ-साथ लेश्या-सिद्धांत का रसायन-शास्त्रीय महत्त्व भी है। जैनागमों में मनुष्य के चिंतन को रसायन भी कहा गया है। इसलिए वहां चित्त-परिवर्तन को रसायन-परिवर्तन कहा जाता है। रसायनशास्त्र का अंग्रेजी पर्याय 'केमस्ट्री' शब्द सही अर्थ में रसायन का अनुवाद नहीं है। रसायन शब्द का समानार्थी शब्द 'अलकेमि' है। रंग-विज्ञान के साथ अगर लेश्या-सिद्धांत की तुलना की जाए तो कई आश्चर्यजनक तथ्य उभरकर आएंगे। इन तथ्यों का संबंध मनुष्य के चित्त और उसमें होने वाली परिवर्तनपरक हलचल से है।

कृष्णलेश्या का रंग स्थानांग सूत्र में भंवरे के समान काला बताया गया है। काला रंग विज्ञान के अनुसार अगृहीय रंग है, इसके ऊपर कोई रंग प्रभावी नहीं होता। 'कबीरदास की काली कामली चढ़े न दूजो रंग' कहावत के अनुसार कुछ लोगों का मन इतना जटिल होता है कि कोई भी संवेदनजन्य प्रतिक्रिया नहीं होती है। ऐसी प्रवृत्ति के मनुष्य क्रूर, ढीठ और बर्बर स्वभाव के होते हैं। कृष्णलेश्या से प्रभावित चित्त हिंसा और प्रतिरोध से भरा होता है। कृष्णलेशी मनुष्य को मनोविज्ञान की भाषा में आत्मपीड़क और परपीड़क के रूप में व्याख्यायित किया जा सकता है। इसके लिए मनोविज्ञानी 'मेसोचिस्ट' और 'सेडिस्ट' शब्दों का व्यवहार करते हैं।

कृष्णलेश्या और नीललेश्या को हम मनोविज्ञान की भाषा में 'सेडिस्टोर' और 'मेच्योसिस्ट' कह सकते हैं। आत्मपीड़क मानसिकता तीव्रतम आवेश का वह रुग्ण रूप है जो अपनी पीड़ा में आस्वादन लेती है। आत्मपीड़ा में जो सुख देखता है वह घोर कृष्णलेशी आत्मपीड़क मानसिक उन्मादी या रोगी हो सकता है। परपीड़क कृष्णलेशी मानसिकता वालों के उदाहरण अपराध विज्ञान और असाधारण मनोविज्ञान में प्रचुरता से मिलते हैं। इस तरह की मानसिकता वाला व्यक्ति दूसरों को संतप्त करके दूसरों की पीड़ा, कराह और आह में अपने सुख की राह को तलाशता है। कई बार समाचारपत्रों में इस तरह की घटनाएं पढ़ने को मिलती हैं जिनमें हत्या के अपराधी ने जिस व्यक्ति की हत्या की, उसके प्रति न तो उसके मन में प्रतिशोध का भाव था, न ही उसने चोरी व लूट के लिए हत्या की—क्योंकि मृतक के पास धन और आभूषण यथावत मौजूद थे। अपराधी के पकड़े जाने पर जब उससे पूछताछ की जाती है तो पता चलता है कि उसने किसी उद्देश्य-विशेष से हत्या नहीं की है, अपितु हत्या करने में उसको एक अनूठा सुख मिलता है। आह और कराह के बीच उसने अपने आनंद के स्रोत को बहता हुआ अनुभव किया। ऐसी उन्मादित मानसिकता वाले लोग घोर कृष्णलेशी होते हैं।

स्वपीड़क को नीललेश्या में समाहित किया जाता है। जो किसी उद्देश्य-विशेष के लिए आवेश का वेश धारण करता है, उसे नील-लेशी कहा जा सकता है। तेजोलेश्या के स्तर पर आते-आते कृष्ण मंद हो जाते हैं और पद्मलेश्या में वह क्षीण हो जाते हैं। शुक्ललेशी अवस्था वह भाव-दशा है, जहां विभाव एकदम अस्तित्वहीन होकर रह जाते हैं—परम् शुक्ल परम् शुभ्र निर्विकल्प चेतना। इस तरह लेश्या का सिद्धांत मानवीय मनोविज्ञान को समझने की एक सशक्त प्रक्रिया है जिसे मनो-रासायनिक स्तर पर हजारों वर्ष पूर्व जैनागमों ने विश्लेषित किया है। आवश्यकता है वर्तमान मनोविज्ञान और रंग-विज्ञान के संदर्भ में इसके व्यापक और विशद अनुसंधान की, जिससे जैनागमों और मनोविज्ञान के क्षेत्र में नए क्षितिज उभारे जा सकें। ❖

भारतीय दर्शन : समन्वय....पृष्ठ 12 का शेष

—आत्मा परम-ऐश्वर्य संपन्न होता है। वही परमात्मा कहलाता है। जैन आत्मा को कर्ता मानते हैं। इस दृष्टि से परमात्मा कर्ता है। इस प्रकार कर्तृवाद प्रस्थापित हो जाता है।

कहने का तात्पर्य यह कि प्रत्येक बात में समन्वय का सूत्र खोजा जा सकता है। खोजने पर वह मिल भी जाता है। अनेकांत इसका मूल है। इस अनेकांतदृष्टि से समन्वय की खोज सरल हो जाती है। यदि हम इस दिशा में प्रयत्न करें और प्राचीन परंपराओं में रहते हुए समन्वय के तथ्य उजागर करें तो समन्वय का स्वर बहुत मुखरित हो सकता है। इसके आधार पर मनोमालिन्य और मतभेद की बात कम हो जाती है और समता तथा समन्वय की बात प्राप्त हो जाती है। इस खोज से एक नया आयाम उद्घाटित होगा, चिंतन के क्षेत्र में नया सूर्योदय होगा, जिसकी आलोक-रश्मियां पूरे जीवन-व्यवहार और व्यक्तित्व को आलोकित करती रहेंगी। ❖

अनुभूति

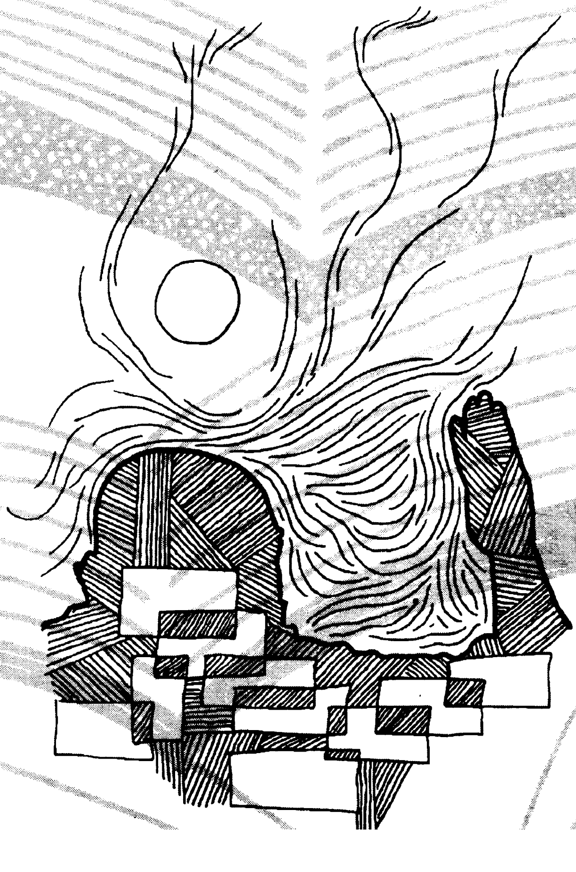

अर्पित

गमले में उगा नन्हीं-नन्हीं पत्तियों का
हरा सजग बिरुवा मुझे शांति देता है।
तुम्हें क्या देती है तुम्हारी सेनापतियों,
सैनिकों, युद्धबंदियों की पांति?

तुम जिस जीवन में जुते हो, अनुयाइयों,
उसी में मैं भी अर्पित हूं—
अपने कविधर्म से अपनी ही भांति।

—रघुवीर सहाय

आनंद : भीतर के स्वरूप की पहचान

चतरसिंह मेहता

> महावीर ने आचारांग में कहा है 'जे एगं जाणई, से सव्वं जाणई'—जो एक को जानता है, वह सबको जानता है। जिसने एक को, अपने-आप को नहीं जाना, उसने सारी दुनिया को जान भी लिया तो क्या जाना? दुनिया की ढेर-सारी सामग्री इकठ्ठी कर ली, लेकिन जब यह चोला बदल जाएगा तो वे सारी निरर्थक हो जाएंगी। मनुष्य तो विश्व की एक इकाई है, ब्रह्मांड का ही एक छोटा रूप है, इसलिए जब वह स्वयं को जान लेगा तो अस्तित्व के अंतर-रहस्यों का बोध स्वतः ही प्राप्त कर लेगा। महावीर ने कहा—'सब-कुछ जीत लो, लेकिन यदि स्वयं को नहीं जीता तो वह जीत विजय नहीं है। सब-कुछ पा लो और यदि स्वयं को नहीं पाया तो वह पाना उपलब्धि नहीं है।'
>
> •
>
> लाख कोई कहे, अपने को जानो—पर अपने को जानने का हमारे पास समय नहीं है। हम औरों को तो जान लेते हैं, पर अपने स्वयं को जानने से बचते रहते हैं। औरों की किताबें पढ़ लेते हैं, पर अपनी किताब अनपढ़ी रह जाती है। चौबीसों घंटे ऐसे उपाय करते हैं कि अपने से मिलना कहीं न हो जाए। हम अपने को भुलाने का हर उपाय करते हैं। हमारे मनोरंजन के उपाय अपने को भुलाने के उपाय हैं। नशा अपने को भुलाने के लिए है। अकेले हो जाना हमें बुरा लगता है, मौन से घबराते हैं। हर कोशिश करते हैं कि कहीं भीतर देखना न पड़े कि वहां कौन है।

प्रत्येक व्यक्ति सुख चाहता है, आनंद चाहता है, पर सबको मिलता कहां है! पृथ्वी पर ऐसे व्यक्ति कम ही मिलेंगे जो यह कहें कि वे पूर्ण सुखी हैं, पूर्ण आनंद में हैं। कोई-न-कोई दुख लगा रहता है। किसी को कोई दुख, किसी को कोई, पर दुखी लगभग सारे ही हैं। उपनिषद में कहा गया है— सुखदुखः बुद्ध्याश्रयोऽन्तः कर्ता यदा, तदा इष्ट विषये बुद्धिः सुखबुद्धिः, अनिष्ट विषये बुद्धिर्दुःखबुद्धिः। अर्थात् सुख-दुख की दृष्टि से अंतर में रुचिकर वस्तु की जो इच्छा है, यह 'सुख-बुद्धि' है और अरुचिकर वस्तु की कल्पना 'दुख-बुद्धि' है। वास्तव में सुख व दुख की कल्पना के पीछे वस्तु अथवा बाह्य जगत ही है।

आनंद—न दुख, न सुख

अधिकांश लोग सुख और आनंद को समानार्थी समझ लेते हैं। दुख तो लगभग स्पष्ट है—जिसके आने से घबराहट उत्पन्न हो, तो वह आसानी से समझ में आ जाता है। सुख के बारे में भ्रांति है। सुख को तो हम बुलाते हैं, निमंत्रण देते हैं और फिर बुलाकर फंस भी जाते हैं। जब वह पुराना पड़ जाता है तो फिर उससे भी ऊब जाते हैं। आनंद वह स्थिति है, जहां न दुख है, न सुख, वह कभी पुराना नहीं पड़ता, इसलिए उससे ऊबने की कोई वजह ही नहीं है। यदि जीवन में कहीं से घबराहट व ऊब पैदा न होती हो तो समझना चाहिए वही आनंद का मार्ग है। घबराहट या ऊब, या कहें दुख या सुख, दोनों ही संसार के हिस्से हैं और अस्थाई हैं, क्योंकि जो भी संसार का हिस्सा है, वह अस्थाई ही होगा।

आनंद स्वभाव है

दुख कोई भी नहीं चाहता। सब शांति और आनंद चाहते हैं। ऐसा क्यों है? इसलिए कि दुख हमारा स्वभाव नहीं है। दुख विजातीय है, हमारे स्वरूप के विपरीत है। दुख को न चाहने का कारण इतना ही है कि भीतर का स्वरूप आनंद का है। यदि भीतर का स्वरूप दुख का होता तो फिर व्यक्ति को दुख का पता ही नहीं चलता, क्योंकि वह तो अपने स्वरूप को ही समृद्ध करता। परंतु कोई भी दुख नहीं चाहता, क्योंकि दुख हमारे स्वभाव, हमारे स्वरूप के विपरीत है। जो-जो हम नहीं चाहते, वे सब हमारे स्वरूप के विपरीत होने के कारण ही नहीं चाहते। कोई भय नहीं चाहता, कोई अंधकार नहीं चाहता, कोई मृत्यु नहीं चाहता, कोई दुख नहीं चाहता, ये सब हमारे स्वभाव के विपरीत हैं। हमारा स्वरूप, हमारा स्वभाव है—अभय, अमृत, प्रकाश, आनंद आदि—इसलिए इनके विपरीत चीजें हमें दुखदाई लगती हैं। यदि यह चिंतन शुरू हो जाए कि मैं दुख क्यों नहीं चाहता, आनंद को मैंने खोया कहां है, तो एक अद्भुत प्यास पैदा होनी शुरू हो जाती है।

सभी जानते हैं कि कुआं खोदने के लिए, जल प्राप्त करने के लिए पहले मिट्टी हटानी पड़ती है, फिर कंकड़ हटाने होते हैं, फिर आगे चट्टानों को खोदना पड़ता है। ये सब परतें हटने पर नीचे से पानी का झरना फूट पड़ता है। पानी वहां मौजूद था, बाहर से नहीं लाना पड़ा, केवल ऊपर के आवरण दूर करने पड़े और नीचे झरना फूट पड़ा। ऐसे ही हमारे भीतर अनंत ज्ञान, अनंत शक्ति, अनंत आनंद मौजूद हैं। ऊपर का आवरण अलग करते ही आनंद का झरना स्वतः ही फूट पड़ेगा।

भीतरी आंख से दर्शन

पर, परेशानी है कि व्यक्ति जिस आंख से सारे जगत को देखता है, उसका उपयोग वह अपने ऊपर नहीं करता। जो देखना सारे जगत पर प्रतिफलित हो रहा है, वह अपने पर प्रतिफलित नहीं होता। आंख खोलने पर बाहर की वस्तुएं दिखती हैं, बंद करने पर भी उनके ही प्रतिबिंब व स्मृतियां घूमती हैं। खुली व बंद आंख—दोनों ही बाहर से संबंधित रहती हैं। इसीलिए जीसस अपने सुनने वालों को बार-बार कहते थे—'जिनके पास आंखें हों, वे देखें और जिनके पास कान हों, वे सुन लें—मैं कहे जा रहा हूं, मैं प्रकट किए जा रहा हूं।' जिनसे वे बोल रहे थे, वे अंधे भी नहीं थे, बहरे भी नहीं थे, लेकिन जीसस को यह बार-बार कहना पड़ता था। वे बाहर दिखने वाली आंखों व कान की बात नहीं कर रहे हैं। उनका अर्थ उन आंखों व कान से है जो दिखते नहीं हैं। वे भीतरी आंख की बात कर रहे हैं, अंतस की बात कर रहे हैं। बाहर की आंख ही परिवर्तन ला सकती होती तो आज दुनिया दूसरी ही होती।

इसीलिए तो महावीर ने 'निर्जरा' का मार्ग बताया है—बाहर से आए हुए का प्रभाव विसर्जित करना। मन में वही रहे जो बाहर से नहीं आया है। केवल इस पर विचार हो कि वह स्वभाव क्या है, स्वरूप क्या है जो बाहर से नहीं आया है। बाहर के तो अतिथि हैं, जो आज आए हैं, तो कल चले जाएंगे। यदि यह समझ लिया जाए तो भीतर हमेशा निवास करने वाली आत्मा बलवती हो जाएगी। और यही होगा आत्मदर्शन, आत्मज्ञान।

सिकन्दर के जीवन की एक घटना है—जब सिकन्दर मृत्युशैय्या पर था तो उसके पास सेना के अफसर खड़े हुए थे। सिकन्दर प्रतिपल मृत्यु की ओर बढ़ रहा था और वे अफसर दुखी व उदास हों, यह स्वाभाविक था। मृत्यु के आगे लाचारी है। विश्व का सम्राट तब बड़ा दयनीय दिख रहा था। तभी सिकन्दर ने आंखें खोलीं और कहा कि मेरी एक अंतिम इच्छा है—जिसे तुम अवश्य पूरी करना। पास में खड़े सभी चकित थे कि अब अंतिम समय में सम्राट की और क्या इच्छा हो सकती है? सम्राट ने कहना जारी रखा—'जब मेरी अर्थी उठे तो मेरे दोनों हाथ बाहर रखना ताकि दुनिया देख सके कि सम्राट होकर, सारी दुनिया का बादशाह होकर भी खाली हाथ जा रहा हूं।' मृत्यु के समय कितना नैराश्य? वह इसलिए कि उसने सही तरीके से जीवन नहीं जीया। मृत्यु के समय मुस्कान उसी के चेहरे पर रह सकती है जो जीवन से संतुष्ट हो, जो आंतरिक मौन और आनंद का संवाहक हो। ऐसे व्यक्ति का अंतस निर्मल होता है।

ज्ञान—सब तालों की चाबी

जीवन का सत्य, अंतस की पहचान, आत्मदर्शन या आत्मज्ञान कैसे उपलब्ध होते हैं? गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं—**न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।।** इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र करने वाला निःसंदेह कुछ भी नहीं है। ज्ञान को उपलब्ध किया हुआ आत्मा में प्रवेश कर जाता है। महावीर ने भी यही कहा है—**'हया अण्णावयो किया'**— अज्ञानियों की क्रिया व्यर्थ है। जो ज्ञान में नहीं उतरा और जबरदस्ती आचरण में आ गया, वह व्यक्ति को पाखंडी बनाएगा। यदि ज्ञान में आ गया तो आचरण में उतारने के लिए किसी प्रयत्न की आवश्यकता नहीं रहेगी।

ज्ञान की परिभाषा भी श्रीकृष्ण ने गीता में स्पष्ट की है—**'सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन। अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्।।** सृष्टियों का आदि, अंत और मध्य भी मैं ही हूं तथा मैं विद्याओं में अध्यात्म विद्या और परस्पर विवाद करने वालों में तत्त्व निर्णय के लिए किया जाने वाला वाद हूं। ब्रह्म विद्या, अध्यात्म विद्या का अर्थ है—वह विद्या, वह परम विज्ञान जिसमें हम उसे जान लेते हैं जिसकी कोई मृत्यु नहीं, जिसका कोई जन्म नहीं। दूसरे शब्दों में वह परम विज्ञान है, जिसके द्वारा हम उसे जान लेते हैं जो सब जान रहा है। उपनिषद में एक कथा है—श्वेतकेतु सब शास्त्रों का अध्ययन कर लौटा। जो भी जानने योग्य था, जान आया। निश्चित ही जानने की अकड़ आ गई थी। जब वह गांव के भीतर प्रविष्ट हुआ, उसके पिता ने अपने मकान से उसे देखा। श्वेतकेतु अकड़ा हुआ आ रहा था। आया तो पिता ने कहा—'मालूम होता है, सब जानकर आया है।' श्वेतकेतु ने कहा—'सब जानकर आ गया, जो भी जानने के लिए था। जितनी विद्याएं थीं, सब सीखकर आया हूं।' उसके पिता ने कहा—'एक ही सवाल तुझे पूछना है। तू ने उसे भी जाना या नहीं जिसके जानने से सब जान लिया जाता है?' उसने

कहा—'यह विद्या तो मैंने कोई सुनी नहीं।' उसके पिता ने कहा—'तू वापस लौट जा। तू उसको जानकर लौट—जिसे जाने बिना सब बेकार है और जिसे जानने से सब जान लिया जाता है।'

एगं जाणई, सव्वं जाणई

महावीर ने आचारांग में कहा है **'जे एगं जाणई, से सव्वं जाणई'**—जो एक को जानता है, वह सबको जानता है। जिसने एक को, अपने-आप को नहीं जाना, उसने सारी दुनिया को जान भी लिया तो क्या जाना? दुनिया की ढेर-सारी सामग्री इकट्ठी कर ली, लेकिन जब यह चोला बदल जाएगा तो वे सारी निरर्थक हो जाएंगी। मनुष्य तो विश्व की एक इकाई है, ब्रह्मांड का ही एक छोटा रूप है, इसलिए जब वह स्वयं को जान लेगा तो अस्तित्व के अंतर-रहस्यों का बोध स्वतः ही प्राप्त कर लेगा। महावीर ने कहा—'सब-कुछ जीत लो, लेकिन यदि स्वयं को नहीं जीता तो वह जीत विजय नहीं है। सब-कुछ पा लो और यदि स्वयं को नहीं पाया तो वह पाना उपलब्धि नहीं है।'

स्वामी रामतीर्थ के जीवन की एक घटना है। वे जापान में थे। एक भवन के पास से निकल रहे थे, भवन में आग लग गई। लोग सामान निकाल रहे थे। भवनपति बाहर खड़ा था। होश खो दिया था—उसने। उसे कुछ दिख नहीं रहा था, लेकिन देख तो जरूर रहा था। लोग सामान बाहर ला रहे थे। रामतीर्थ भी खड़े होकर देखने लगे। लोगों ने अंतिम बार पूछा—'भवन में और तो कुछ बाकी नहीं रह गया?' भवनपति ने कहा—'मुझे कुछ याद नहीं पड़ता। तुम्हीं एक बार जाकर देख लो, जो बचा हो, उसे ले आओ।' लोग भीतर गए। वे बाहर आए तो रोते हुए बाहर आए। कहीं एकांत में भवनपति का एकमात्र लड़का था, उसकी राख को लेकर लौटे थे। रामतीर्थ ने अपनी डायरी में लिखा—'उस दिन मुझे लगा कि यह घटना प्रत्येक के जीवन में घटती है। हम समान को बचाने में लग जाते हैं, मकान का मालिक धीरे-धीरे मर जाता है।' जो बाहर है—उसे बचाने में लग जाते हैं, जो आंतरिक है, जो स्वयं है—उसको भूल जाते हैं। यही आत्महत्या है, देह की नहीं, आत्मा की।

आत्मज्ञान में कठिनाई

लाख कोई कहे—अपने को जानो, पर अपने को जानने का हमारे पास समय नहीं है। हम औरों को तो जान लेते हैं, पर अपने स्वयं को जानने से बचते रहते हैं। औरों की किताबें पढ़ लेते हैं, पर अपनी किताब अनपढ़ी रह जाती है। चौबीसों घंटे ऐसे उपाय करते हैं कि अपने से मिलना कहीं न हो जाए। हम अपने को भुलाने का हर उपाय करते हैं। हमारे मनोरंजन के उपाय अपने को भुलाने के उपाय हैं। नशा अपने को भुलाने के लिए है। अकेले हो जाना हमें बुरा लगता है, मौन से घबराते हैं। हर कोशिश करते हैं कि कहीं भीतर देखना न पड़े कि वहां कौन है।

कठोपनिषद में एक श्लोक है—**परांचि खानि व्यतृणत स्वयंभूस्तस्मात्परांपश्यति नान्तरात्मन। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृतचक्षुरमृतत्वमिच्छन्।।** कहा है—स्वयं प्रकट होने वाले परमेश्वर ने समस्त इंद्रियों के द्वार बाहर की ओर जाने वाले ही बनाए हैं, इसलिए मनुष्य (इंद्रियों के द्वारा प्रायः) बाहर की वस्तुओं को ही देखता है, अंतरात्मा को नहीं। किसी (भाग्यशाली) बुद्धिमान मनुष्य ने ही अमरपद को पाने की इच्छा करके चक्षु आदि इंद्रियों को बाह्य विषयों की ओर से लौटा कर अंतरात्मा को देखा है। हमारा जानना, हमारा पहचानना—हमारे शरीर और मन तक ही सीमित है। हम अपने शरीर को जानते हैं और अपने मन को भी जानते हैं। इनके आगे का कोई अंतर्दर्शन नहीं होता। यम नचिकेता को समझा रहा है कि शरीर और मन के पीछे भी कोई है, इसका अंतर्दर्शन हुए बिना कोई व्यक्ति इस सत्य को नहीं समझ सकता कि भीतर आनंद है, भीतर परमात्मा है। महावीर का तो यह संदेश है कि मनुष्य की अंतरात्मा ही परिशुद्ध होकर परमात्मा हो जाती है।

कस्तूरी कुंडल बसै

संत कबीर ने कहा है—**कस्तूरी कुंडल बसै, मृग ढूंढ़े वन माहिं। ऐसे घट-घट राम हैं, दुनिया देखे नाहिं।** कबीर ने बड़ा प्यारा प्रतीक चुना है। जिस मंदिर को, जिस अस्तित्व को, जिस ज्ञान और आनंद को खोजते हैं, वह तो कुंडल में ही, भीतर ही बसा है, पर व्यक्ति की स्थिति वही है जो कस्तूरी-मृग की है। भागते फिरते हैं उसके लिए जो भीतर छिपा है। शुरू से ही गलती हो गई है—जो भीतर है, उसे बाहर सोच लिया। सारी पहचान बाहर से है। अपने बारे में भी वही जानते हैं जो दूसरे कहते हैं। भीतर से अपने को जानना ही नहीं हुआ। जानते हैं—भीतर आत्मा है, पर आत्मा से तो कोई परिचय ही नहीं है।

जार्ज गुरजिएफ कहा करते थे कि जिन लोगों ने लोगों को समझाया कि सबके भीतर आत्मा है, उन्होंने जगत की बड़ी हानि की है। गुरजिएफ ने उल्टी बात कहनी शुरू की, इस बात को भलीभांति जानते हुए कि सभी के भीतर आत्मा है। गुरजिएफ ने कहना आरंभ किया—'सभी के भीतर आत्मा

नहीं है, जो आत्मा को पैदा कर ले, उसके भीतर है, बाकी तो बिना आत्मा के हैं।' गुरजिएफ कहते थे—'सभी को यह खयाल हो गया है कि हमारे भीतर आत्मा है। जब तक 'है' या 'नहीं', एक बराबर है—जब तक जानी नहीं, उसके होने के क्या मतलब हैं? घर में खजाना गड़ा हो पर पता न हो तो उस खजाने का क्या अर्थ है? इसीलिए तो कृष्ण कहते हैं—जो जान लेता है, वही आत्मा को उपलब्ध होता है।

आत्मज्ञान—नया जन्म

बुद्ध के पास जब कोई भिक्षु आता था तो वे पूछते थे कि तेरी उम्र कितनी है? एक भिक्षु बुद्ध के पास आया, बुद्ध ने उससे भी यही प्रश्न किया। उसने कहा—'केवल चार दिन।' उम्र उसकी कोई सत्तर वर्ष मालूम होती थी। बुद्ध ने कहा—'तुम कोई व्यंग्य करते हो, मजाक करते हो?' उसने कहा—'नहीं, चार दिन पहले ही आपको सुनते क्षण में मुझे अपने होने का पहली बार पता चला—वही मेरा जन्म है। उसके पहले तो संसार था, मैं था ही नहीं। और अभी बहुत कमजोर हूं, एक शिशु की तरह—अतः आपके सहारे की आवश्यकता है।' उस दिन बुद्ध ने कहा—'भिक्षुओ, आज से हमारे भिक्षुओं की उम्र नापने की यही व्यवस्था होगी।' माता-पिता तो एक शरीर को जन्म देते हैं, लेकिन स्वयं को जन्म देना हो तो स्वयं ही देना पड़ता है। यह जन्म तभी घटित होता है जब कि ऊर्जा भीतर की ओर प्रवाहित होने लगती है।

धैर्य की जरूरत

झेन फकीर रिंझाई के पास एक युवक आया और उसने कहा—'मैं बहुत खोजता हूं, लेकिन मुझे भीतर आत्मा का कुछ पता नहीं लगता। और सभी सद्गुरु कहते हैं : आत्मा को जानो, आत्मा को पहचानो, आत्मा में रमो। किसमें रमें? किसको पहचानें? मैं तो भीतर खोजता हूं, मुझे कुछ मिलता नहीं।' सर्दी की सांझ थी और रिंझाई गुरसी (अंगीठी) में आग जलाए ताप रहा था, लेकिन आग करीब-करीब बुझ चुकी थी, राख ही राख थी। उसने उस युवक को कहा—'पहले जरा देख कि गुरसी में आग बची या नहीं?' युवक ने पास में पड़ी लकड़ी को उठाकर आग को कुरेदा, राख ही राख थी। उसने जल्दी ही कह दिया कि नहीं, कुछ आग वगैरह नहीं है।

फिर रिंझाई ने बहुत गौर से उस आग को कुरेदा और एक छोटे-से अंगारे को, जो नीचे दबा पड़ा था, निकालकर उसे बताया कि देख, आग है। तूने बहुत जल्दी की। जो तूने यहां गुरसी के साथ किया, वही तू अपने साथ कर रहा है। रिंझाई ने कहा—'तू भीतर जाता है और जल्दी लौट आता है। जन्मों-जन्मों की राख है, अंगार कहीं होगी, बाहर की अंगार तो बुझ भी जाए, पर भीतर की अंगार तो बुझती ही नहीं।'

आपे जाणुं आपु

व्यक्ति अपने मन को समझे, अपने जीवन-उद्देश्यों, संतोष के कारकों, चिंतन के विभिन्न तरीकों, जीवन की प्रक्रियाओं पर विभिन्न गतिविधियों के माध्यम से विचार करे। स्थिति को समझे—मैं कौन हूं? मैं क्या हूं? मैं क्यों हूं? मैं क्या चाहता हूं? यदि स्वयं को रूपांतरित करना है, आनंदित होना है तो अपनी असलियत से परिचित होना पड़ेगा, क्योंकि झूठ को नहीं बदला जा सकता। व्यक्ति की जैविक संरचना सिर्फ आदर्श की शिक्षा से नहीं बदली जा सकती। भीतर की चेतना केवल वैज्ञानिक विधि से ही बदली जा सकती है। यह विधि है—स्वयं के भीतर उतरकर तथ्य का निरीक्षण करना और उस पर विमर्श करना। जागरूकता के माध्यम से मन विसर्जित हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति की शारीरिक क्षमता तो अलग-अलग हो सकती है, पर आत्मिक क्षमता समान है। केवल भीतर होश जगाने की, केवल अपने भीतर प्यास पैदा करने की बात है। इसमें रटे-रटाए, दूसरों के द्वारा दिए गए उत्तर काम के नहीं होते। उत्तर स्वयं ही खोजना पड़ेगा क्योंकि किसी के भीतर कोई दूसरा कैसे जा सकता है? अपना सत्य ही मुक्त कर सकता है, स्वयं की अनुभूति ही काम की है। दूसरों के सत्य तो सिद्धांत-भर बनकर रह जाते हैं।

गुरु नानक ने कहा है—**'नानक बड़ा आखीए, आपे जाणुं आपु। सालाहि सालाहि एतो सुरति न पाइयां।** वे कहते हैं—'स्वयं ही अपने को जान सकता है, जब तक सुरति नहीं, कुछ भी नहीं हो सकता।' बुद्ध जिसको स्मृति कहते हैं, महावीर जिसे विवेक, गुरजिएफ जिसे 'सेल्फ-रिमेम्बरिंग' और कृष्णमूर्ति जिसे 'अवेयरनेस'—एक जागरूक भाव, उसी को नानक 'सुरति' कहते हैं।

भीतर है खजाना

जो भी लोग पहुंचे हुए हैं, जिन्होंने जीवन को जाना है, उन सभी ने एक ही बात कही है—चाहे कृष्ण हों, महावीर हों, बुद्ध हों, क्राइस्ट हों या कोई अन्य—सभी ने यही कहा है कि सचाई भीतर झांकने से ही मिलती है—आत्मज्ञान से, आत्मबोध से। जिन्होंने भी आनंद पाया है, अपने से बाहर नहीं—भीतर ही पाया है। रहीम ने ठीक कहा है—**'एकहि साधे सब सधे, सब साधे सब जाय; रहिमन मूलहि सींचिबो, फूलहि फलहि अघाय।** यह मूल भीतर है, जड़ भीतर है, खजाना भीतर है। स्वज्ञान हो जाए तो उस आनंद के खजाने की चाबी हाथ आ जाए। ❖

मनस्वी व्यक्तित्व

सागर-सी गहराई : पर्वत-सी ऊंचाई

समणी हिमप्रज्ञा

"एक ओर शिक्षा बढ़ रही थी, बुद्धि का विकास भी हो रहा था, प्राचीन मान्यताएं शिथिल होकर नए सिद्धांत जन्म ले रहे थे। दूसरी ओर समाज में दहेज-प्रथा, बालविवाह, कन्यावध, मृत्युभोज, कालाधन, कालाबाजारी आदि दुष्प्रवृत्तियां भी विद्यमान थीं। समाज कुरूढ़ियों से घिरा हुआ था। महिलाएं प्रायः घर की दहलीज नहीं लांघती थीं और वे घूंघट अथवा परदे में ही रहती थीं, पारिवारिक-जनों की मृत्यु होने पर मार्गों से रोते हुए जाना, विधवा को कलंक तथा उसके मुख-दर्शन को अपशकुन मानना, उनका सामाजिक तिरस्कार आदि अनेक कुप्रथाएं उस समय के समाज में विद्यमान थीं। धर्म का क्षेत्र भी वाद-विवाद और संघर्ष से घिरा हुआ था। धार्मिक व्यक्ति भी अनैतिक व्यवहार कर रहे थे। धर्म का स्थान केवल मंदिरों, मस्जिदों, धर्मस्थानों तक ही सीमित था। धर्म करो, परलोक सुधर जाएगा—यह धारणा पुष्ट हो रही थी। वर्तमान जीवन के परिष्कार की बात कम सोची जाती थी। उपासना एवं चरित्र के पक्ष गौण थे। अनेक मान्यताएं प्रचलित थीं। इन सभी समस्याओं को समाप्त करने के लिए आचार्यश्री तुलसी ने 2 मार्च, 1949 को अणुव्रत आंदोलन का सूत्रपात किया। अणुव्रत आंदोलन नैतिक विकास का प्रायोगिक रूप था।"

अध्यात्म पुरुष सदैव पारमार्थिक दृष्टिसंपन्न होते हैं। पारमार्थिक दृष्टि से संपन्न व्यक्तित्व में सहजता और सरलता होना भी स्वाभाविक ही है। यही सहजता उनको स्वतंत्रता देती है, लेकिन उनकी स्वतंत्रता कभी मर्यादाहीन नहीं होती। अपनी प्रगतिशील मानसिकता के कारण वे जड़ रूढ़ियों को तोड़कर अपना मार्ग प्रशस्त करते हैं और निजी स्वार्थों पर अंकुश लगाकर उन समस्याओं पर अपना ध्यान केंद्रित करते हैं—जिनसे समाज, देश एवं मानवजाति का हित जुड़ा हुआ होता है।

पुण्य स्मरण

आचार्यश्री तुलसी ऐसे ही एक आध्यात्मिक पुरुष थे। चूंकि उनकी मूल प्रवृत्ति ही आध्यात्मिक थी, अतः उनका व्यक्तित्व भी अंतर्मुखी था। फिर भी उनका दृष्टिकोण नए-नए रूप ग्रहण करता रहता था। उनके व्यक्तित्व का यह एक सामाजिक रूप था। इस तरह वे बहुमुखी प्रतिभासंपन्न व्यक्तित्व माने जाते थे। उनकी अंतर्मुखता उन्हें परिस्थिति के दल-दल में धंसने नहीं देती थी, वहीं नए-नए रूप ग्रहण करता उनका दृष्टिकोण उनके जीवन में एकरूपता की ऊब नहीं आने देता था। संघर्ष उनके जीवन की नियति रही—इस शाश्वत सत्य को स्वीकार करते हुए उनकी अंतर्मुखी चेतना कभी भी परिस्थितियों से प्रभावित नहीं हो सकी।

सामंजस्य और व्यापकता नैतिक प्रगति के दो आधार स्तंभ कहे जा सकते हैं। इनके विकास से मनुष्य का व्यक्तित्व विराट और स्वाभाविक बनता है। आचार्यश्री तुलसी के व्यक्तित्व में ये दोनों घटक मणिकांचन संयोगवत् अनुस्यूत थे। समाज में उसी का व्यक्तित्व स्वीकार्य होता है जो उसके लिए उपयोगी हो। जिस व्यक्तित्व में उच्च प्रतिभा, चरित्रबल और व्यापकता नहीं होती वह अपने जीवन पुष्प को उपयोग के धागे में नहीं पिरो सकता।

महाकवि कालिदास ने व्यक्तित्व की संपूर्ण व्याख्या करते हुए अपने प्रसिद्ध काव्य रघुवंश में लिखा है—तुङ्गत्वमितरा नाद्रौ नेदं सिन्धावगाधना। अलंघनीयता हेतु द्वयमेतद् मनस्विनि।।

पहाड़ में ऊंचाई होती है, पर गहराई नहीं होती। समुद्र में गहराई होती है, पर ऊंचाई नहीं होती। मनस्वी व्यक्ति में ऊंचाई भी होती है और गहराई भी। आचार्यश्री तुलसी का व्यक्तित्व ऊंचाई और गहराई की महिमा से अभिमंडित था। 20 अक्टूबर, 1914 को राजस्थान के छोटे-से कस्बे लाडनूं में वे जन्मे। 5 दिसंबर, 1925 को आचार्य कालु के हाथों दीक्षित हुए। दीक्षोपरांत वे विद्यार्जन में लग गए। उन्होंने व्याकरण, साहित्य, दर्शन और आगम विषयक ग्रंथों को कंठस्थ किया। मातृभाषा के अतिरिक्त संस्कृत एवं प्राकृत भाषाओं का भी

अधिकारपूर्ण अध्ययन किया। आचार्य तुलसी का यह समय स्वयं के विद्याध्ययन के अतिरिक्त विद्यार्थी साधुओं की सार-संभाल, उन्हें कार्यकुशल बनाने, उनके आचार-विचार पर निगाह रखने और अनुशासन बनाए रखने में भी बीता। आचार्यश्री तुलसी का स्वयं का अध्ययन अपने गुरु आचार्य कालु की देखरेख में हुआ। आचार्य कालु का जहां एक ओर तुलसी के प्रति चरम वात्सल्य था, तो दूसरी ओर नियंत्रण और अनुशासन भी कम नहीं था। वात्सल्य और अनुशासन—इन दोनों से तितिक्षा के भाव पैदा होते हैं और उन्हीं से जीवन विकासशील बनता है।

तेरापंथ संप्रदाय में एक आचार्य के नेतृत्व की परंपरा है। एकाधिनायक के अनुशासन की क्षमता सर्वोपरि होती है। आचार-कौशल को भी यहां महत्त्व दिया जाता है। संघहितैषिता और विद्या इनकी तीसरी विशेषता होती है। मुनि तुलसी ने इन तीनों ही विशेषताओं को अर्जित कर आत्मसात् किया। एक आचार्य की सभी पात्रताएं उन्होंने प्राप्त कर लीं। 21 अगस्त, 1936 को आचार्य कालु ने उन्हें अपना युवाचार्य मनोनीत किया और 27 अगस्त, 1936 को आचार्य कालु के महाप्रयाण के पश्चात् मुनि तुलसी आचार्यपद पर आसीन हुए। जैन इतिहास में मात्र 22 वर्ष की उम्र में आचार्यपद प्राप्ति जैसे उदाहरण आचार्य हेमचंद्र आदि—एकाध ही उपलब्ध होते हैं।

आचार्यश्री तुलसी ने जब आचार्यपद का दायित्व संभाला तब वे परंपरागत पुराने वातावरण में श्वास ले रहे थे। मुख्यतः राजस्थान ही उनकी पद-विहार भूमि थी। नए विचारों के लिए यह भूमि अपर्याप्त और कम उर्वर थी। आचार्यश्री तुलसी अपने आचार्यत्व के प्रथम दशक में युग चेतना को झंकृत नहीं कर सके। इस दशक में उन्होंने स्वयं का निर्माण और अपने अधीनस्थ साधु-साध्वियों की सार-संभाल का गुरुतर कार्य ही किया।

आचार्यत्व का एक दशक बीतने के साथ ही उनकी तेजस्विता का पहला परचम 'अशांत विश्व को शांति का संदेश' के रूप में सामने आया। महात्मा गांधी ने भी इस 'संदेश पुस्तिका' पर टिप्पणी की और लिखा—'ऐसे संदेश निकालने में देरी क्यों?' इस संदेश के कुछ महत्त्वपूर्ण अंश न्यूयार्क के 'साइरेंक्यूज विश्वविद्यालय' के एक पाठ्यक्रम में तुलनात्मक अध्ययन के रूप में सम्मिलित किए गए।

यद्यपि प्रथम दशक केवल तेरापंथ के आचार्य के रूप में ही उन्हें प्रतिष्ठित कर पाया, पर दूसरे दशक में वे अणुव्रत आंदोलन के प्रवर्तक के रूप में प्रतिष्ठित हुए। भारत के सर्वोच्च न्यायालय के तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश वी. पी. सिन्हा ने कहा—'मेरी समझ में तेरापंथ की सबसे बड़ी देन आचार्य तुलसी हैं—जिन्होंने ठीक समय पर सारे देश में नैतिक जागरण का शंख फूंका।'

15 अगस्त, 1947 को भारत परतंत्रता से मुक्त हुआ। 26 जनवरी, 1950 को हमारा अपना संविधान लागू हुआ और हिंदुस्तान लोकतंत्रीय प्राणाली से शासित हो गया। इसके साथ ही सभी प्रमुख नेता अपने-अपने राजनीतिक दलों में लिप्त हो गए। स्वतंत्रता संग्राम में जो एकजुटता थी—वह टूट-सी गई। जातिवाद, अस्पृश्यता, सांप्रदायिकता, महंगाई, गरीबी आदि अनेक समस्याओं से जनता का चरित्र विकृत और मानस उत्पीड़ित हो रहा था।

एक ओर शिक्षा बढ़ रही थी, बुद्धि का विकास भी हो रहा था, प्राचीन मान्यताएं शिथिल होकर नए सिद्धांत जन्म ले रहे थे। दूसरी ओर समाज में दहेज-प्रथा, बालविवाह, कन्यावध, मृत्युभोज, कालाधन, कालाबाजारी आदि दुष्प्रवृत्तियां भी विद्यमान थीं। समाज कुरूढ़ियों से घिरा हुआ था। महिलाएं प्रायः घर की दहलीज नहीं लांघती थीं और वे घूंघट अथवा परदे में ही रहती थीं, पारिवारिक-जनों की मृत्यु होने पर मार्गों से रोते हुए जाना, विधवा को कलंक तथा उसके मुख-दर्शन को अपशकुन मानना, उनका सामाजिक तिरस्कार आदि अनेक कुप्रथाएं उस समय के समाज में विद्यमान थीं। धर्म का क्षेत्र भी वाद-विवाद और संघर्ष से घिरा हुआ था। धार्मिक व्यक्ति भी अनैतिक व्यवहार कर रहे थे। धर्म का स्थान केवल मंदिरों, मस्जिदों, धर्मस्थानों तक ही सीमित था। धर्म करो, परलोक सुधर जाएगा—यह धारणा पुष्ट हो रही थी। वर्तमान जीवन के परिष्कार की बात कम सोची जाती थी। उपासना एवं चरित्र के पक्ष गौण थे। अनेक मान्यताएं प्रचलित थीं। इन सभी समस्याओं को समाप्त करने के लिए आचार्यश्री तुलसी ने 2 मार्च, 1949 को अणुव्रत आंदोलन का सूत्रपात किया। अणुव्रत आंदोलन नैतिक विकास का प्रायोगिक रूप था। आचार्यश्री तुलसी ने अणुव्रत के माध्यम से कहा—

- धर्म का स्थान पहला है, संप्रदाय का स्थान दूसरा है।
- संप्रदाय अनेक हो सकते हैं, धर्म सबका एक है।
- धर्म राजनीति से अलग है, उसमें राजनीति का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए।
- धर्म केवल परलोक सुधारने के लिए नहीं है, उससे वर्तमान जीवन सुधरना चाहिए।
- जिसका वर्तमान नहीं सुधरता उसका परलोक कभी नहीं सुधरता।

अणुव्रत की इस विचारधारा से नास्तिकों को भी आस्तिकता का सुखद भान हुआ। इन स्वरों को सुनकर तत्समय के प्रबुद्ध पत्रकार अक्षयकुमार जैन ने कहा—'अब मैं अपने मित्रों के बीच स्वयं को धार्मिक कह सकूंगा।'

आचार्यश्री तुलसी ने औद्योगिक और व्यावसायिक बुराइयों की समाप्ति के लिए एवं चरित्र-विकास के निमित्त 15 मार्च, 1960 को लोकनायक जयप्रकाशनारायण की उपस्थिति में एक 'त्रिसूत्री योजना' प्रस्तुत की। ये तीन सूत्र थे—मिलावट-निषेध, रिश्वत-निषेध और मद्य-निषेध। आचार्यश्री तुलसी की इस त्रिसूत्री योजना को जयप्रकाशनारायण ने नैतिक क्रांति कहा।

17 अगस्त, 1960 को अमेरिका के भारत स्थित सांस्कृतिक सचिव ने कहा—'मुझे लगता है—प्रभु क्राइस्ट ने जो दर्शन दिया है, अणुव्रत आंदोलन उसी के समान है। प्रभु क्राइस्ट ने जिस मनोवैज्ञानिक ढंग से समाज में व्याप्त विकृतियों को दूर करने का प्रयास किया—अणुव्रत आंदोलन उसी प्रकार छोटे-छोटे व्रतों द्वारा समाज की विकृतियों का परिष्कार कर रहा है।'

15 मार्च, 1960 को कोलकाता में सर्वोदयी नेता जयप्रकाशनारायण ने 'अणुव्रत आंदोलन' के नैतिक-आध्यात्मिक स्वरूप को 'मानव धर्म' बताते हुए कहा—'आज उस धर्म की आवश्यकता नहीं है जिससे वैयक्तिक मोक्ष की प्राप्ति होती है। आज ऐसे मानव धर्म की आवश्यकता है जो सबके लिए समान कल्याणकारी हो। आचार्य तुलसी का अणुव्रत आंदोलन तथा विनोबा भावे का सर्वोदय, वैयक्तिक शांति के साथ-साथ कोलाहलपूर्ण मानव समाज को उन्नत करने का आध्यात्मिक आंदोलन भी है।'

30 जनवरी, 1968 को राजस्थान विधानसभा के कुछ सदस्यों ने अणुव्रत आंदोलन के समर्थन का प्रस्ताव रखा और मत प्रकट किया कि इसे एक राष्ट्रीय नैतिक-आंदोलन के रूप में स्वीकार किया जाए। चूंकि यह आंदोलन रिश्वतखोरी, कालाबाजारी आदि के बरक्स अहिंसा, अपरिग्रह आदि व्रतों का समर्थक है, इसलिए इस आंदोलन की सराहना करते हुए नवंबर 1968 में राजस्थान सरकार ने अपने गजट में इसे प्रसारित किया। कहा गया कि अणुव्रत आंदोलन देश में इस समय चल रहा है, जिसका उद्देश्य चरित्र-पतन को रोकना तथा समाज के सभी वर्गों में नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा करना है। इसका लक्ष्य, जाति, वर्ग, देश और धर्म का भेदभाव न रखते हुए मनुष्यमात्र को आत्मसंयम की ओर प्रेरित करना तथा अहिंसा एवं विश्व-शांति की भावना का प्रसार करना है।

आचार्यश्री तुलसी महान परिव्राजक थे। उनके परिव्रजन का उद्देश्य मात्र पर्यटन या विश्वदर्शन ही नहीं था, उनका उद्देश्य था जन-जन की अंतश्चेतना के साथ तादात्म्य स्थापित करना, उनकी वृत्तियों और प्रवृत्तियों का सूक्ष्मता से अध्ययन और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण कर—समाज, देश, राष्ट्र में व्याप्त समस्याओं का स्थाई समाधान प्रस्तुत करना तथा उन्हें नियंत्रित और संतुलित जीवन जीने की प्रेरणा देना एवं नैतिक मूल्यों का प्रचार करना था। आचार्यश्री तुलसी ने 11 वर्ष की अल्पायु में ही पदयात्रा का महान पथ स्वीकार कर लिया था। उन्होंने लगभग पूरे भारत की पदयात्रा की। यात्रा-क्षेत्र का अनुमापन किया जाए तो एक लाख किलो मीटर से अधिक पदयात्रा हो जाएगी। उत्तर में पंजाब से लेकर दक्षिण में कन्याकुमारी तक तथा पूर्व में कोलकाता से पश्चिम में मुंबई तक पदयात्रा की है।

पदयात्रा के दौरान आचार्यश्री तुलसी ने समाज को अहिंसक जीवन जीने की प्रेरणा दी। अहिंसाप्रधान जीवनशैली का प्रयोग अध्यात्म के क्षेत्र में तो मान्य रहा है, किंतु सामाजिक और राष्ट्रीय संदर्भों में अहिंसा का प्रयोग कम ही व्यक्तियों ने किया है। महात्मा गांधी ने जीवन की हर समस्या का समाधान अहिंसा के धरातल पर ही किया। आचार्यश्री तुलसी ने अनावश्यक हिंसा के विरोध में अपनी बात को मजबूती से रखा। उन्होंने हर बात की ओर इंगित किया। जैसे उन्होंने कहा—जिस प्रसाधन सामग्री में मूक प्राणियों की कराह घुली है, उसका प्रयोग करने वाले अपने शरीर को चाहे सुंदर बना लें, पर उनकी आत्मा का सौंदर्य सुरक्षित नहीं रह सकता।

आचार्यश्री तुलसी की पदयात्रा जन-जागरण की पदयात्रा थी। इसका मूल्यांकन करके ही राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह ने कहा था—'आचार्य तुलसी ने संपूर्ण देश में परिभ्रमण कर व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के उत्थान के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।'

आचार्यश्री तुलसी ने अपने जीवनकाल में संपूर्ण मानवता के लिए अनेक प्रवृत्तियां प्रवाहित कीं—जीवनविज्ञान, प्रेक्षाध्यान, समणश्रेणी, अणुव्रत आंदोलन आदि इनमें प्रमुख हैं। इन्हीं प्रवृत्तियों से उन्होंने देश-विदेश में व्याप्त समस्याओं का समाधान देने का प्रयत्न भी किया।

आचार्यश्री तुलसी का संपूर्ण जीवन आध्यात्मिकता के साथ-साथ जन-जन के उत्थान और विकास के साथ-साथ समाज, देश, राष्ट्र में भाईचारे और परस्परता के लिए समर्पित रहा। ❖

परिवार :
पर्यावरण संरक्षण की प्रथम इकाई

मुनि रमेशकुमार

घर में बैठे हुए यह अनुभव होता है कि सिर में दर्द हो रहा है, भारीपन है, जुकाम-खांसी है, जी मिचलाना, दमा आदि परेशानियां भी होती रहती हैं। इन्हें उत्पन्न करने वाले अधिकांश विषाणु हमारे घर के अंदर ही पाए जाते हैं, जो हमारे स्वास्थ्य पर प्रतिकूल असर डालते हैं। इन परिस्थितियों से यदि हमें बचना है तो घर के पर्यावरण की ओर ध्यान केंद्रित करना होगा।

आधुनिक मकानों में तो आज प्रकाश व धूप का प्रवेश भी बहुत कम हो पाता है। हम कभी भी अनुभव कर सकते हैं कि जिस कमरे में हम सोते हैं—वह रात-भर बंद रहता है। सुबह एक बार कमरे से बाहर जाकर जब वापस उसी कमरे में प्रवेश करेंगे तो वहां की वायु में हमें दुर्गंध आएगी। सोने के कमरे में यदि एक खिड़की खुली रहे तो उस दूषित हवा से बचा जा सकता है। वातानुकूलित मकान, 'एयर टाइट सीलिंग' वाली भव्य इमारतें—ज्यादा ही प्रदूषित होती हैं।

•

आज घरों में नित नए आधुनिक उपकरणों का प्रचलन बढ़ता जा रहा है। इन उपकरणों के उपयोग से जहां समय और श्रम की कमी हुई है, वहीं दूसरी ओर कम श्रम होने के कारण अनेक शारीरिक व्याधियां भी बढ़ी हैं। घरों में वाशिंग मशीन, माइक्रोवेव-ओवन, ग्राइंडर, कुकिंग-रेंज, ए.सी., रंगीन टी.वी., फ्रिज, गीजर, हीटर व दफ्तरों में कंप्यूटर, जिरोक्स, फैक्स आदि मशीनों का भी उपयोग होता है। इनसे निकलने वाले प्रदूषक तत्त्व एक निश्चित सीमा के पश्चात् हानिकारक हो जाते हैं।

'परि' एवं 'आवरण' इन दो शब्दों की संधि से बना 'पर्यावरण' शब्द वर्तमान में बहुचर्चित शब्द है। पर्यावरण शब्द का अर्थ है अच्छी तरह से ढकने का साधन, जो पृथ्वी को सभी ओर से आच्छादित किए रखता है। इस आच्छादन से संपूर्ण प्राणी जगत सुरक्षित रहता है। इसे स्वच्छ, संतुलित व शुद्ध बनाए रखना प्रत्येक व्यक्ति का नैतिक उत्तरदायित्व बनता है। परिवार, पर्यावरण और प्रदूषण इन तीनों में परस्पर गहरा रिश्ता है। ऐसा रिश्ता, जिससे सभी परिचित हैं। प्रदूषण का तात्पर्य केवल बड़े-बड़े उद्योगों-कारखानों से निकलता हुआ धुआं, नाभिकीय विस्फोट, विजातीय कचरा, गंदी बस्तियां व गंदे पानी आदि से ही लेते हैं और इतिश्री मान लेते हैं।

विश्व पर्यावरण दिवस

हमें अपने चिंतन के दर्पण में अपने घर-परिवार के पर्यावरण के प्रतिबिंब को भी देखना चाहिए कि घर व आफिस का पर्यावरण कैसा है? वह कितना प्रदूषित है। यह सोचने का ही विप्रयास है कि हम पूरे संसार की चिंता करते हैं, लेकिन अपने घर की पूर्णरूप से उपेक्षा कर देते हैं। नदी, पहाड़, नाले, वृक्षों-जंगलों में ही हम उलझकर रह जाते हैं। अंतरराष्ट्रीय स्तर के 'पृथ्वी सम्मेलन' तो हो गए हैं, पर पारिवारिक स्तर पर पर्यावरण संरक्षण के लिए शायद ही कोई सम्मेलन हुआ हो—ऐसा सुनने में अब तक नहीं आया। परिवार की जागरूकता के आधार पर बहुत अंशों में हम पर्यावरण को संतुलित रख सकते हैं।

पारिवारिक जीवन से जुड़ी अनेक छोटी-बड़ी बातों का ध्यान रखना अत्यंत आवश्यक है और बहुत-कुछ अंशों तक ऐसा करके प्रकृति को प्रदूषित होने से बचाया जा सकता है। जरूरत इतनी ही है कि पर्यावरण के महत्त्व को हम समझें। हमारे परिवार का दृष्टिकोण बदले, दैनिक जीवनचर्या में परिवर्तन आए। तभी घर के भीतर व आसपास का पर्यावरण स्वच्छ हो पाएगा और पर्यावरण संरक्षण की दिशा में भी विकास होगा।

अमेरिका में लारेंस बर्कल प्रयोगशाला के वैज्ञानिकों ने अनेक तरह की खोजों के पश्चात् यह बताया है कि विश्व में सर्वाधिक प्रदूषित स्थानों में से एक 'घर' भी है, जहां व्यक्ति का अधिकांश समय ही नहीं, पूरा जीवन गुजरता है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन ने 'इंडोर एयर पोल्यूशन' को विश्वव्यापी समस्या माना है। माना गया कि बाहर की वायु से भी ज्यादा प्रदूषण-तत्त्व घर के अंदर हैं, जिससे घर के सभी सदस्य प्रभावित होते हैं। घर में कोयला, स्टोव, रसोई गैस, सिगरेट, बीड़ी आदि के धुएं से अनेक हानिकारक कण एवं हानिकारक रसायन—जैसे कार्बन डाईऑक्साइड, कार्बन-मोनोऑक्साइड, साईट्रिकऑक्साइड, सल्फर

डाईऑक्साइड इत्यादि निकलकर घर के भीतर प्रदूषण फैलाते हैं। इससे श्वसनतंत्र की बीमारियां, ठंड लगना, एलर्जी, त्वचा रोग, अस्थमा व अन्य संक्रमण-व्याधियां हो सकती हैं।

एक अध्ययन के अनुसार दिल्ली शहर के वायुमंडल में औसतन 500 प्रति वर्गमीटर हानिकारक कण पाए गए हैं। जिन घरों में शुद्ध वायु व प्रकाश आने के पर्याप्त मार्ग नहीं हैं—गांवों के ऐसे कुछ घरों, कच्ची बस्तियों के घरों के भीतर तो 10 हजार प्रति वर्गमीटर हानिकारक कण पाए गए हैं। जाहिर है—घर के भीतर ही रुग्ण होने के अनेक कारण विद्यमान हैं, पर उनसे परिवारजन परिचित नहीं हैं। घर में बैठे हुए यह अनुभव होता है कि सिर में दर्द हो रहा है, भारीपन है, जुकाम-खांसी है, जी मिचलाना, दमा आदि परेशानियां भी होती रहती हैं। इन्हें उत्पन्न करने वाले अधिकांश विषाणु हमारे घर के अंदर ही पाए जाते हैं, जो हमारे स्वास्थ्य पर प्रतिकूल असर डालते हैं। इन परिस्थितियों से यदि हमें बचना है तो घर के पर्यावरण की ओर ध्यान केंद्रित करना होगा।

आधुनिक मकानों में तो आज प्रकाश व धूप का प्रवेश भी बहुत कम हो पाता है। हम कभी भी अनुभव कर सकते हैं कि जिस कमरे में हम सोते हैं—वह रात-भर बंद रहता है। सुबह एक बार कमरे से बाहर जाकर जब वापस उसी कमरे में प्रवेश करेंगे तो वहां की वायु में हमें दुर्गंध आएगी। सोने के कमरे में यदि एक खिड़की खुली रहे तो उस दूषित हवा से बचा जा सकता है। वातानुकूलित मकान, 'एयर टाइट सीलिंग' वाली भव्य इमारतें—ज्यादा ही प्रदूषित होती हैं। प्रदूषण विशेषज्ञों ने इनकी 'रुग्ण इमारत रोग' के नाम से पहचान करवाई है। एक रिपोर्ट में यह भी उल्लेख किया गया है कि इन इमारतों के भीतरी प्रदूषण से हर वर्ष हजारों लोग अकाल-मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

आजकल घरों में रासायनिक प्रदूषण फैलाने वाले उपकरणों का प्रयोग भी काफी होता है। इसी प्रकार चिप-बोर्ड, प्लाइवुड, पोलिश, कृत्रिम फाईबर, कीटनाशक रसायन, सफाई करने वाले उपकरण आदि भी प्रमुखतः काम में आते हैं। ये सभी घर के अंदर प्रदूषण को फैलाते हैं। वैज्ञानिकों ने गहन खोज के पश्चात् कुछ ऐसे रसायनों का पता लगाया है जो प्रदूषण के मुख्य आधार हैं, इनमें बेनजिन, फोरमैल्डोहाइड, ट्रिचलारो इथलिन आदि प्रमुख हैं।

बेनजिन रसायन पैट्रोलियम हाइड्रोकार्बन से उत्पन्न होता है। वैसे यह रसायन सभी तरह के धुएं में भी पाया जाता है, लेकिन तंबाकू के धुएं में मुख्य रूप से होता है। इसी तरह यह रयासन स्याही, पेंट, प्लास्टिक, रबर में भी पाया जाता है। बेनजिन एक दीर्घकालीन जहर और कैंसर रोग का भी मुख्य कारण है। यह आंखों व त्वचा पर जलन उत्पन्न करता है, इससे सिर में भी तेज दर्द होता है। इसके अतिरिक्त अनिद्रा का कारण भी है।

फार्मल्डीहाइड—इसे मैथेलोन के नाम से भी जाना जाता है। इसका उपयोग ताप प्रतिरोधक फोम, प्लाइवुड, व्यावसायिक कागज आदि उत्पादों व पार्टीकल बोर्ड, चिपबोर्ड, रेजिन्स, सिंथेटिक कारपेटिंग आदि में होता है। सस्ते घरेलू उपकरणों व शेंपुओं में भी यह मौजूद रहता है। यह आंख, नाक, कान और गले में जलन पैदा करता है।

ट्राईक्लारोइथलीन—यह रसायन गोंद, वार्निश, 'ड्राइक्लीन', कपड़ों, छपाई की स्याही, शराब, रंग-रोगन में पाया जाता है। विशेषज्ञ इसे लीवर (यकृत) के कैंसर का प्रमुख कारण मानते हैं। यह घर के उपयोग में आने वाले आकर्षक गलीचे, सोफासेट के नीचे, प्लाइवुड की आलमारियों में, स्टोव रखने के स्थान, शौचालय आदि के आसपास अधिक पाया जाता है। वातानुकूलित भव्य इमारतों में रहने वाले व उनमें कार्य करने वाले अधिकांश लोगों में एलर्जी के लक्षण पाए गए हैं—जैसे आंख में खुजली, त्वचा पर लाल निशान, सांस लेने में कठिनाई व मस्तिष्क में दर्द आदि।

आज घरों में नित नए आधुनिक उपकरणों का प्रचलन बढ़ता जा रहा है। इन उपकरणों के उपयोग से जहां समय और श्रम की कमी हुई है, वहीं दूसरी ओर कम श्रम होने के कारण अनेक शारीरिक व्याधियां भी बढ़ी हैं। घरों में वाशिंग मशीन, माइक्रोवेव-ओवन, ग्राइंडर, कुकिंग-रेंज, ए.सी., रंगीन टी.वी., फ्रिज, गीजर, हीटर व दफ्तरों में कंप्यूटर, जिरोक्स, फैक्स आदि मशीनों का भी उपयोग होता है। इनसे निकलने वाले प्रदूषक तत्त्व एक निश्चित सीमा के पश्चात् हानिकारक हो जाते हैं।

अत्याधुनिक इन उपकरणों से कभी-कभी ऐसी दुर्घटनाएं घटित हो जाती हैं कि व्यक्ति की अकाल मृत्यु भी हो जाती है। कुछ वर्षों पहले लंदन की एक घटना मैंने पढ़ी। एक दंपती अपने फ्लेट के 'बाथरूम' में मृत पाया गया। पोस्टमार्टम की रिपोर्ट से पता चला कि यह हत्या या आत्महत्या का मामला नहीं है, बल्कि प्रदूषण से हुई मृत्यु का मामला है। उस दंपती के 'फ्लेट' व 'बाथरूम' में प्रदूषण की जांच करने से यह मालूम हुआ कि 'ड्राइक्लीन' किए हुए कपड़ों से निकल रही विषैली भाप से उनकी मृत्यु हुई। उन

कपड़ों को हीटर की छड़ पर सुखाने के लिए डाल रखा था। बाथरूम जैसी छोटी जगह में वह भाप जमा होती गई और उसका स्तर इतना अधिक हो गया कि जिससे दंपती की अकाल मृत्यु हुई। जांच की रिपोर्ट से यह भी पता चला कि पत्नी के फेफड़ों में कैंसर था व पति हृदय-रोग से पीड़ित था।

आज रसोईघरों में कुकिंग गैस पर ही भोजन तैयार होता है। कुछ क्षणों के लिए भी गैस खुली रह जाए तो वहां दुर्गंध फैल जाती है। बहनें अपनी सुविधा के लिए उस गैस की आंच के ऊपर रोटी सेंकती हैं। रोटी या चपाती उस गैस को अपनी ओर खींचती है। उसका प्रभाव रोटी पर स्पष्ट झलकता है। रोटी के कोने पूर्णरूप से काले हो जाते हैं। उन रोटियों को खाते समय थोड़ा-सा भी ध्यान दें तो उनमें कड़वा स्वाद आएगा। वे स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हैं। सुविधा के साथ स्वास्थ्य का ध्यान रखना भी गृहिणी का कार्य होना चाहिए। जब स्वास्थ्य का प्रश्न व पर्यावरण संरक्षण का प्रश्न प्रमुख होगा—तभी स्वस्थ पर्यावरण का जन्म होगा।

घरों में कीटनाशक दवा का उपयोग भी होता रहता है। कीड़ों, मच्छरों, खटमलों, कॉकरोच आदि को मारने के लिए ऐसे रसायनों को छिड़कते हैं। एक ओर इन जीवों की हिंसा से अशुभ कर्मों का बंधन होता है, दूसरी ओर ये रसायन भी घरों में प्रदूषण फैलाते हैं, जो हमारे स्वास्थ्य के लिए भी हानिकारक होते हैं।

वैज्ञानिकों ने घर के पर्यावरण को स्वच्छ रखने के उपाय भी बताए हैं, जैसे—मकानों में 'मनीप्लांट', 'स्पाइडरप्लांट', बेंत, गूलर जैसे पौधे घर को प्रदूषण से मुक्त रख सकते हैं। कुछ छोटी-छोटी बातों पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाना आवश्यक होता है। जैसे घर व ऑफिस का वातावरण स्वच्छ रखने के लिए वे चारों ओर से खुले हों। हवा व धूप आने का उचित प्रबंध हो एवं कमरों में वातायन व 'क्रास वेंटीलेशन' की समुचित व्यवस्था हो। घर में सिगरेट-बीड़ी, हुक्का, कोयला, लकड़ी का धुआं अधिक मात्रा में न निकले व एक जगह इकट्ठा न हो। घर के अंदर व बाहर गंदगी न फैलाएं। चारों तरफ सफाई का ध्यान रहे तो पर्यावरण सहज स्वच्छ रह सकता है। वैज्ञानिकों के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को स्वस्थ रहने के लिए 3 हजार क्यूबिक फिट नई हवा प्रति घंटा जरूरत होती है। घर इस तरह से बने हुए हों कि जिनमें दो-तीन घंटों से हवा बदलती रहे जिससे अनेक रोगों से बचाव हो सकता है।

पर्यावरण की सुरक्षा केवल सरकार, वैज्ञानिकों या बड़े-बड़े संगठनों का ही उत्तरदायित्व नहीं होता—हर व्यक्ति की जिम्मेदारी होती है कि हम इसके संरक्षण में अपना सहयोग दें। अणुव्रत एक नैतिक आंदोलन है। अणुव्रत का 'संयम सूत्र' इस समस्या को समाहित करता है। अणुव्रत के छोटे-छोटे नियम, जैसे—मैं निरपराध प्राणी का संकल्पपूर्वक वध नहीं करूंगा, अनावश्यक हिंसा को प्रश्रय नहीं दूंगा, पर्यावरण के लिए जागरूक रहूंगा। ये पर्यावरण संरक्षण में सहायक हो सकते हैं। अणुव्रत आंदोलन जन-चेतना को जागृत करने में व पर्यावरण संरक्षण में सहज ही उपयोगी सिद्ध हो सकता है। हम प्रकृति और पर्यावरण के रिश्तों को समझें। उसे संरक्षित, सुरक्षित करने का कार्य अपने परिवार से प्रारंभ करें तो पर्यावरण की जटिल समस्या के समाधान की दिशा में सहज प्रस्थान हो सकता है। ❖

कानून नैतिकता के न्यूनतम स्तरों का नियंत्रण करता है। वह लोगों को सक्रिय रूप से अच्छे काम करने के लिए प्रेरित नहीं करता, वरन सिर्फ उन्हें गलत काम करने के लिए सजा देता है। तकनीकी दृष्टि से, अदालतों के पास यह ताकत नहीं है कि वे उन लोगों के मामलों में दखल दें जो सकारात्मक हित के कार्य नहीं करते। अदालतें सिर्फ कानून तोड़ने वालों को इस फैसले के तहत सजा देती हैं कि वे गलत काम करने वाले या अपराधी हैं। इस तरह अधिकारीगण अपना ध्यान जुर्म करने वालों के ऊपर केंद्रित करते हैं और साथ-साथ समाज के अन्य सदस्यों के अधिकारों की सुरक्षा भी। न्यायिक प्रशासनों का अस्तित्व हित के प्रोत्साहन के लिए नहीं बल्कि पुनश्चः के रूप में सजा सुनाने के लिए है। वे वास्तव में बुराई को रोक नहीं सकते।

—त्सुनेसाबुरो माकीगुची

मॉर्निंग विज्डम

रमेशचन्द्र शाह

> नहीं, मुझे खेद के साथ कबूल करना पड़ रहा है कि मैं ऐसा दावा नहीं कर सकूंगा। यह आत्मविश्लेषण एक दुधारी तलवार है। इससे फायदा उठाने के लिए शायद कुछ दूसरे गुण भी चाहिए जो उस तरह अभी मुझमें प्रकट होते नहीं दिखाई देते। एक आदत जरूर बन गई है अपने को लगातार काटते-छीलते रहने की, मगर उससे तो अपनी उलझन कम होने की बजाए उलटे, बढ़ती ही जा रही है। और आत्मविश्वास? वह भी तो दिनोदिन फैलने की बजाए उलटे, सिकुड़ता ही चला जा रहा है। दुर्गति ही दुर्गति है मेरी। घड़ी-भर को भी अपने से संतुष्ट अनुभव करने की या अपनी पीठ ही ठोंक सकने की कभी नौबत ही नहीं आती। आखिर अपनी दुर्बलताओं का यह लगातार गहराता, अधिकाधिक तीखा होता जाता ज्ञान मुझे देता क्या है?
>
> •
>
> तो क्या जो मैं बक रहा हूं इतनी देर से, यह मेरी 'मॉर्निंग-विज्डम' कहलाएगी? मॉर्निंग विज्डम वह हो सकती थी—क्यों नहीं हो सकती थी—जरूर हो सकती थी। पर हुई नहीं। पता नहीं, उगते-उगते, मेरी कलम की नोक तक आते-आते वह ब्राह्मी बुद्धि न जाने कहां बिला जाती है। कितनी अजीब बात है यह ब्राह्ममुहूर्त मेरे लिए कभी किसी जमाने में सचमुच ब्राह्ममुहूर्त ही हुआ करता था, और शायद, उसी 'कभी' की बदौलत मुझे आज भी कभी-कभार ऐसी राहत नसीब हो जाया करती है, जो टिकाऊ उस तरह चाहे न हो, उपजाऊ भी उस तरह चाहे न हो; मगर जो फिर भी—दो-चार मिनट को ही सही—किसी जादू से कम नहीं लगता।

रात का रंग अभी खासा गाढ़ा लग रहा है। चश्मा नहीं पहने हूं नींद में, इसलिए आसमान के तारे तो नहीं दीखते, फिर भी अनुमान यही लगा रहा हूं कि चार-साढ़े चार के आस-पास हुआ होगा। अभी अजान भी कहां हुई! मुश्किल से तीन-चार घंटे की नींद मिली होगी मुझे। उठकर देखूं घड़ी? क्या करना है घड़ी देखकर? यह पेट का अलार्म काफी नहीं क्या?

हालांकि यह पेट का अलार्म ठीक साढ़े चार बजे ही बजता हो—ऐसी बात तो नहीं। अक्सर वह अजान के आस-पास ही बजता है। यूं, कभी-कभार वह ब्राह्ममुहूर्त के भी पहले मुझे उठा देता है—हालांकि ऐसा तभी होता है, जब तकलीफ काफी कम हो और नींद भी गहरी आई हो। मगर आज तो रोज से कुछ ज्यादा ही फंसावट है। ऐसा क्या खा लिया था आखिर कल रात मैंने? बस, मेथी का साग और दो परांठे ही तो निगले थे। साथ में दही एक कटोरा। पिछले तीन हफ्तों से मैंने यह हिसाब रखना शुरू कर दिया है—अपने खाए-पीए का हिसाब। मुझे अच्छी तरह पता है—कैसा जानलेवा शोधकार्य है यह—अमानुषिक धीरज और संकल्प की मांग करने वाला। फिर भी, इतनी मुस्तैदी के साथ मैं कभी किसी काम में जुटा होऊंगा, मुझे याद नहीं पड़ता। जाने कैसे और क्यों, मुझ पर—ऐसे ही ब्राह्ममुहूर्त में एक दिन—इलहाम-सा टूटा था कि यह जो बेहिसाब मिलावट और अंतहीन असंगतियों से पटी पांडुलिपि है—तुम्हारी अपनी देह की पांडुलिपि— इसके मूल पाठ तक अगर पहुंचना चाहो (और क्यों नहीं चाहोगे? आखिर कौन ऐसा अभागा होगा जो अपने मूल पाठ का सुराग लगते ही, उसकी महज एक झलक पाने के लिए, अपना सब-कुछ दांव पर नहीं लगा देगा?) तो वहां तक पहुंच पाने का कोई रास्ता अगर हो सकता है, तो वह रास्ता सिर्फ इधर से है।

बस, तभी से मैंने यह रास्ता पकड़ लिया है—अपने खाए-पिए का, हर छोटी से छोटी चीज का भी हिसाब दुरुस्त रखने का। मैं खूब अच्छी तरह पता लगा लेना चाहता हूं कि क्या खाने या पीने से मेरी तकलीफ बढ़ती है, क्या खाने या पीने से ज्यों की त्यों रहती है और क्या खाने से या न खाने से वह घटती है? मैं खालिस दूध पर रहके देखूंगा, खाली मट्ठे पै रहके देखूंगा, शुद्ध फलाहार करके भी देखूंगा और निराहार रहके भी देखूंगा। हर हालत में, अब, जैसे भी हो, मैं इस पापी पेट को पछाड़ के ही रहूंगा। रोग की जड़ तक पहुंचकर ही दम लूंगा मैं। या तो यह रोग ही रहेगा, या मैं।

हर पांच मिनट में करवट बदलता हूं। रह-रहकर शरीर को धनुष की तरह तानता हूं। हवा की उस अदृश्य और अस्पृश्य गांठ पर ध्यान जमाकर अपने मन

के ही जोर से उसे नीचे को धकेलने की कोशिश करता हूं। ऐसी हर कोशिश और हर करवट के बाद थोड़ी राहत तो जरूर मिलती है...पर वह गांठ!...वह तो नहीं ही पिघलती। वह तो पड़ी रहती है चुपचाप वहीं की वहीं। अभी कोई घंटा, आध घंटा मेरी इस गांठ से लड़ाई चलेगी। फिर मैं उठूंगा, उठकर तांबे का पानी पीऊंगा और फिर चाय बनाऊंगा सोंठ-कालीमिर्च की। और फिर टहलूंगा अरिस्टोटल की तरह इस कमरे से उस कमरे तक। यों धीरे-धीरे वह गांठ सरकेगी, घुलेगी, और तब होगा मेरा दिनारंभ।

कोई दस-पंद्रह बरसों से यही क्रम चला आ रहा है। न रोग थकता है, न मैं। लगता है जैसे इस रोग का इतिहास ही मेरा इतिहास है जिससे मुझे पिंड छुड़ाना है। जिससे मुझे अब जैसे भी हो, उबर ही आना है। कितने टोटके आजमा चुका मैं, कितनी दवा-दारू इस गड्ढे में उंड़ेल चुका। न होमियोपैथी मुझ पर चली, न ऐलोपैथी ही मुझे फली और न आयुर्वेद ही मुझे उबार पाया। सब बारी-बारी से, थोड़ी-थोड़ी अवधि के लिए थोड़ी-थोड़ी राहत-रूपी भ्रांति रचते हुए अंततः यथास्थिति बनाए रखने वाले ही सिद्ध हुए। अब मैं इस जकड़बंदी को तोड़कर ही चैन लूंगा। इस रोग के साथ अब मेरा निर्वाह संभव नहीं। निर्वाह का मतलब है समझौता और समझौतावाद अब नहीं चलेगा, बिल्कुल नहीं चलेगा। समझौतावाद?—हां, मैं अभी तक यही तो कहता आ रहा हूं अपने-आप से तथा औरों से भी कि मैंने अपने रोग के साथ रहना सीख लिया है। आदमी के बस में और क्या है—अधिक से अधिक यही न कि वह अपनी अनिवार्य तकलीफों के साथ रहना सीख ले। अरे, जड़ से तो कभी मिटता ही नहीं कोई रोग। वह तो जिंदगी के साथ ही मिटेगा। जिंदगी खुद एक रोग है। क्या नहीं? क्या तुम नहीं देखते कि हर जिंदगी यानी हर जीवनी अपने साथ कोई न कोई रोग लिखाके ही लाती है और...उस लेखे को पोंछना असंभव है?

मेरा एक दूर का रिश्तेदार है जो अंग्रेजी में कविता लिखता है और खासा मशहूर भी हो चुका है। वह एक दिन अचानक मेरे पास आया और एक मंत्र मेरे कान में उंड़ेल गया। वह मंत्र था 'क्रोमोजोम।' बोला—'कोई भी मानवजीव वही होता है, वही बन सकता है जो उसका क्रोमोजोम उसे बनाता है। वही तुम्हारी भाग्यलिपि है, जो तुम्हारे माथे पर नहीं, बल्कि तुम्हारे खून में लिखी हुई है— तुम्हारी हस्ती के जर्रे-जर्रे पर। तुम कुछ भी कर लो, इस 'क्रोमोजोम' को नहीं लांघ सकते। इस क्रोमोजोम से नहीं छूट सकते।' अब यह कोई इलहाम तो था नहीं, न ही यह मेरे रिश्तेदार की कोई मौलिक और अनोखी सूझ थी। निहायत ही घिसी-पिटी और रटी-रटाई-सी बात थी वह—बाइलॉजी का एक निहायत ही शुरुआती सबक। क्या मैं इतना भी नहीं जानता था! रिश्तेदार को क्या मालूम कि मैं विज्ञान का ही स्नातक हूं और यह सब कभी का पचा चुका हूं। मगर...बुरा हो उस मुहूर्त का, जब उसने मुझसे वो बात कही। जाने किस गड्ढे में, जाने कैसे विषाद-योग में मैं धंसा पड़ा था उस वक्त कि वह मामूली-सी बात भी मुझे मंत्र की तरह मार गई। सांप सूंघ गया हो जैसे, बोल ही नहीं फूटा मुंह से, मिनट-दो मिनट तक तो। फिर जब थोड़ा चेता तो हंसकर उसे टालने और टटोलने की कोशिश की कि कहीं व्यंग्य तो नहीं कर रहा है—कहीं मेरी कमजोर नस तो नहीं पकड़ ली इसने? कहीं खेल तो नहीं कर रहा है एक खतरनाक शब्द को लेकर, जैसी कि इसकी आदत है; जैसा कि वह अक्सर अपनी कविता में भी करता ही रहता है। मगर...नहीं साहब, नहीं। वह तो 'डैम सीरियस' था, 'डैम सीरियस'। आकाशवाणी की तरह अटल, अमोघ। भगवान का ही भेजा वह मुझे यही बताने आया था कि मैं कौन हूं। सच में, 'मैं कौन हूं' इस जिज्ञासा का समाधान इतना हृदयविदारक भी हो सकता है, मैं तो सोच भी नहीं सकता था।

एक और बात भी थी। आखिर वह कवि था और कवि की तो पहचान ही, सुना, इसी बात से होती है कि स्वतंत्रता उसे जन्मसिद्ध होती है। तो फिर यह कैसा कवि है जो क्रोमोजोम की गुलामी को ही अपने जन्मसिद्ध अधिकार की तरह फहरा रहा है! कहां है कविता जैसी चीज के लिए कोई गुंजाइश क्रोमोजोम में? न हो, इससे इसका क्या बिगड़ता है। यह खुद तो चांदी की भी क्यों, खालिस प्लैटिनम की चम्मच मुंह में लेकर पैदा हुआ था। कोई रोग नहीं, कोई झंझट नहीं, हीन भावना जैसी चीज की तो इसे कल्पना तक नहीं हो सकती। मनमाना खाने-पीने को मिला, मनमाना पहनने-ओढ़ने, मस्ती काटने, रौब झाड़ने को मिला। नौकरी भी मुंहमांगी तस्तरी में रखी मिली। तभी तो कह गया इतनी आसानी से, इतने चिकने-चुपड़े अंदाज में...कि आदमी और कुछ नहीं, सिर्फ 'क्रोमोजोम' है। क्या वह जानता था वह क्या कह रहा है? उसे क्या पता, क्रोमोजोम क्या होता है! तिस पर, यह भी जड़ रहा था ऊपर से कि वह न तो भाग्यवादी है, न पुरुषार्थवादी, वह तो क्रोमोजोमवादी है। 'दि फॉल्ट, डियर ब्रूट्स इज नॉट इन अवर स्टार्स, बट इन अवरसेल्व्स'...की उसने क्या ही क्रोमोजोमी व्याख्या की थी, जिसे शेक्सपीयर भी अगर सुन पाता, तो अपनी कब्र से बिलबिलाकर उठ खड़ा होता। ग्रह-

नक्षत्रों की बात तो फिर भी समझ में आती है। कम से कम इतनी तसल्ली तो रहती है कि पृथ्वी पर चाहे अपनी कोई पूछ न हो, रिश्तेदार भी सुलगती लकड़ियों की तरह 'अलग रहें तो धुआं दें, मिलें तो जलने लगें' जैसे ही हों, और दोस्त भी ऐसे हों जो आपका मनोबल बढ़ाने की बजाय, इस क्रोमोजोमी कवि की तरह, महाभारत के शल्य की तरह, आपका तेजोवध करने लगें, आपको कीचड़ में धकियाके खुद मजा लेने पर ही उतारू हो जाएं। मगर यह तसल्ली तो रहती है कि इस सबके बावजूद ऊपर अंधेरे आसमान में ही सही, कुछ बेहद ऊंची और चमकीली चीजों से अपनी नियति की डोर तो बंधी ही हुई है। उस कसाई 'क्रोमोजोम' से यह ग्रह-नक्षत्रों वाला नियतिवाद क्या बुरा है!

यह सब मुझे तभी जड़ देना चाहिए था उसके मुंह पर। मगर नहीं जड़ सका, पता नहीं क्यों? शायद इसलिए, कि मुझमें तुरतबुद्धि का अकाल ही पड़ा रहता है। यों मुझमें बुद्धि की तो उस तरह कोई कमी नहीं दीखती, मगर मेरा दुर्भाग्य, कि वह सौ फीसदी पश्चाद्बुद्धि है। वह धीरे-धीरे ही जागती है—कब? जब मुझे पटखनी खिलाने वाला अपनी पीठ ठोंकता हुआ कभी का दृश्य से ओझल हो चुका होता है। बहरहाल, इससे जिसको जो फर्क पड़ना हो पड़े; मेरे लिए तो बस इतना ही एहसास काफी है कि मैं, अभी-अभी मैंने जिसका जिक्र किया, उस समझौतावाद से, और इस क्रोमोजोमवाद से भी पूरी तरह उबर चुका हूं। अरे देह की कथा अलग है, आत्मा की कथा अलग है। दोनों के बीच संबंध जरूर है। मगर क्या है और किसलिए है, यह क्रोमोजोम वाले क्या जानें! वे तो दोनों को गड्डमड्ड करके ही अपना कारोबार चला सकते हैं और वह उन्हीं को मुबारक हो। अब यूं तो क्या अपने पुरखे भी नहीं कह गए हैं साफ-साफ कि यह मानव-देह ही धर्म का सबसे पहला और सबसे जरूरी साधन है? परंतु साधन ही तो कहा न उन्होंने? साध्य तो नहीं कहा उसे! ये क्रोमोजोम वाले भला साधन और साध्य जैसी बारीक बातों को क्या समझें! सत्य के साथ प्रयोग करने के लिए क्या सबसे पहले इस तथाकथित असत्य के साथ—यानी, देह के साथ—कह लीजिए, पेट के साथ ही—प्रयोग करना जरूरी नहीं है? क्यों नहीं है—बिल्कुल, निहायत ही जरूरी है, जैसे कि मन के साथ भी जरूरी है। लेकिन...अब, यूं तो मुझे आत्म-निरीक्षण के मानस-प्रयोग करते हुए भी कम से कम पचीस बरस बीत चुके। ...क्या मैं यह दावे के साथ कह सकता हूं कि इस अनवरत आत्मनिरीक्षण, याकि आत्मविश्लेषण ने मेरे स्वभाव को—कहूं, मेरे मनोविज्ञान को सचमुच बदल दिया है?

नहीं, मुझे खेद के साथ कबूल करना पड़ रहा है कि मैं ऐसा दावा नहीं कर सकूंगा। यह आत्मविश्लेषण एक दुधारी तलवार है। इससे फायदा उठाने के लिए शायद कुछ दूसरे गुण भी चाहिए जो उस तरह अभी मुझमें प्रकट होते नहीं दिखाई देते। एक आदत जरूर बन गई है अपने को लगातार काटते-छीलते रहने की, मगर उससे तो अपनी उलझन कम होने की बजाए उलटे, बढ़ती ही जा रही है। और आत्मविश्वास? वह भी तो दिनोदिन फैलने की बजाए उलटे, सिकुड़ता ही चला जा रहा है। दुर्गति ही दुर्गति है मेरी। घड़ी-भर को भी अपने से संतुष्ट अनुभव करने की या अपनी पीठ ही ठोंक सकने की कभी नौबत ही नहीं आती। आखिर अपनी दुर्बलताओं का यह लगातार गहराता, अधिकाधिक तीखा होता जाता ज्ञान मुझे देता क्या है? खामखाह की ग्लानि, थोड़ी-सी सहिष्णुता और थोड़ा-सा मसखरापन—यही न? इससे मेरा बना क्या? असल सवाल तो यह है। क्या मैं खुद अपना मखौल उड़ाते रहने को या दिन-रात जासूस की तरह अपने पीछे पड़े रहने को ही जनमा था? इसी के लिए दिया गया था मुझे यह दुर्लभ मानुष जन्म?

पढ़ो—पढ़ो तो सही, अपनी इस उजड़ी हुई नींद पर खटाखट छपती जा रही अपनी आत्मकथा—या कह लो, अपनी देहकथा—के ये प्रूफ,...जिनमें बेशुमार गलतियां हो सकती हैं, अर्थ का अनर्थ करने वाली भूलें—एक अनाड़ी कंपोजीटर के हाथों—जिसे तुमने नहीं नियुक्त किया। जो तुमसे पहले ही डटा हुआ था वहां...

'आदमी अपना रोग खुद चुनता है।'

'नहीं, इसका ठीक उलटा। रोग आदमी को चुनता है।'

'दोनों एक ही बात है।'

'कैसे एक बात है?'

'जरा सोचकर देखो खुद ही। तुम चुनते हो या चुने जाते हो, इससे फर्क क्या पड़ता है? दोनों ही दशाओं में रोग रहेगा तो रोग ही। तुम खुद चुनने का भ्रम पालकर अपने को रोग के ऊपर दिखाना चाहते हो—यही न! ...पर जीतता अंततः कौन है? वही रोग ही न? रोग न कहो, मृत्यु ही कह लो—यह तुम्हारा जीवन और तुम जिसे 'मैं' कहकर चलाना-फुलाना चाहते हो, वह 'मैं' भी—क्या हमेशा और

हर घड़ी इसी मृत्यु की पहुंच और गिरफ़्त के भीतर नहीं है? इससे फर्क क्या पड़ता है आखिर कि तुम किस खास या आम रोग के जरिए अपनी इस अवश्यंभावी नियति तक पहुंचे और कितनी देर तुमने वहां तक पहुंचने में लगाई?'

'फर्क तो पड़ता है। क्यों नहीं पड़ता। स्वस्थ जीवन और रोगी जीवन के बीच तुम्हें कोई फर्क ही नहीं दिखाई देता, तो मैं क्या करूं?'

'देखो, सच पूछते हो, तो मुझे उन लोगों से अधिक दयनीय और हास्यास्पद कोई नहीं लगता जो अपनी मृत्यु से नहीं, अपने रोग से नहीं, बल्कि अपनी तथाकथित तंदुरुस्ती से ही आठों पहर घिरे रहते हैं। वे नहीं जानते—बिल्कुल भी नहीं जानते—कि वे किस कदर अभागे हैं। क्या तुम भी नहीं जानते कि कोई रोग न होना ही सबसे बड़ा रोग है? और इस रोग की कोई दवा नहीं? और क्या यह भी सच नहीं कि ज्यादातर कल्पना और संवेदना से शून्य लोग तंदुरुस्त ही कहलाते और होते भी हैं?'

'वाह रे रोग-रति! आत्म-रति का एक और सर्वथा आधुनिक संस्करण!!!'

'आत्म-रति तो वह है : वही—अपनी तंदुरुस्ती की ही फिक्र और अपनी तंदुरुस्ती के ही घमंड से आठों पहर घिरे रहना। इसमें भला क्या आत्म-रति होगी! यह तो अपनी असलियत पहचानना-भर है। मैं यह देह नहीं, देह से अलग और ऊपर, देह को व्यापने वाले समस्त रोगों का गवाह—यानी साक्षी आत्मा हूं—यह पहचान। समझे?'

'अर्थात्...तुम देह में मन को भी मजे में शामिल किए ले रहे हो। है ना?'

'बेशक। मन को ही क्यों, उस बुद्धि को भी क्यों नहीं, जहां से तुम्हारा क्रोमोजोम, तुम्हारा कुदरत-वशीकरण तंत्र-मंत्र और...और जाने कौन-कौन-सा फलसफा निकलता चला आ रहा है—बाबा आदम के जमाने से।'

'बाबा आदम? यह मैं क्या सुन रहा हूं? तुम तो मूल पाठ की तलाश में निकले थे न? मूल पाठ का रोना रोते-रोते तुम मूल पाप तक पहुंच गए? कैसे?'

'मैं अभी कहीं नहीं पहुंचा। शायद तुम्हें खुशफहमी है कि मैं अभी तक तुम्हारी पहुंच के भीतर हूं और तुम जब चाहो, मुझको झपट्टा मारकर दबोच लोगे।'

'अपनी-अपनी समझ है।'

'समझ नहीं, खुशफहमी। तुम्हें तुम्हारी खुशफहमी मुबारक हो..'

'...और तुम्हें तुम्हारा अज्ञान। बस? अब मेरा पिंड छोड़ो।'

लगता है, आज मेरा गणित काफी गड़बड़ा गया है। मेरी नींद उजड़े, करवट बदलने और हवा की गांठ को सरकाने के लिए जूझते क्या अभी एक घंटा भी नहीं बीता होगा? तब फिर, अभी तक मुझे अजान क्यों नहीं सुनाई दी? कितने बजे होती होगी अजान आजकल? पांच बजे ही न? आजकल अजान से पहले तोप दगती है। रोजे जो चल रहे हैं। आज मैं भी रोजा रखूंगा। एकादशी नहीं है आज, तो क्या हुआ। मैं किसी तिथि-विथि से बंधा नहीं। यह मेरे पेट का, नहीं मेरे स्वास्थ्य का, नहीं मेरे रोग का सवाल है। उस रोग का सवाल है, जिसको मैं खामखाह लाइलाज मानकर उसके साथ जीता और निभाता चला आया हूं। मुझे उसे अब खुली चुनौती देनी है। उसकी गांठ ढीली करनी है। नहीं नहीं! वह लाइलाज नहीं हो सकता। उसे पछाड़ने के लिए अन्न और ओषधि को एक हो जाना पड़ेगा। मैं भांति-भांति के खाद्य पदार्थों को आजमाऊंगा, अपने ऊपर उनके असर का खूब बारीकी से अध्ययन करूंगा। क्या लेने से, कितना लेने से कष्ट घटता है, और क्या लेने से, कितना लेने से वह बढ़ जाता है। इस तरह नेति-नेति करते-करते ही आखिरकार मुझे वह आदर्श आहार मात्रा-ज्ञान समेत—अवश्य हाथ लग जाएगा जो मेरे इस रोग को जड़-मूल से उखाड़कर रहेगा।

लो...अब जाकर दगी है तोप। तो क्या मैं आज ब्राह्ममुहूर्त से भी पहले उठ गया था? वो किसकी तारीफ में कहा था किसी ने, कि उसकी 'विज़्डम' 'मॉर्निंग विज़्डम' है? तो क्या जो मैं बक रहा हूं इतनी देर से, यह मेरी 'मॉर्निंग-विज़्डम' कहलाएगी? मॉर्निंग विज्डम वह हो सकती थी—क्यों नहीं हो सकती थी—जरूर हो सकती थी। पर हुई नहीं। पता नहीं, उगते-उगते, मेरी कलम की नोक तक आते-आते वह ब्राह्मी बुद्धि न जाने कहां बिला जाती है। कितनी अजीब बात है यह ब्राह्ममुहूर्त मेरे लिए कभी किसी

जमाने में सचमुच ब्राह्ममुहूर्त ही हुआ करता था, और शायद, उसी 'कभी' की बदौलत मुझे आज भी कभी-कभार ऐसी राहत नसीब हो जाया करती है, जो टिकाऊ उस तरह चाहे न हो, उपजाऊ भी उस तरह चाहे न हो; मगर जो फिर भी—दो-चार मिनट को ही सही—किसी जादू से कम नहीं लगता। इससे बड़ा मखौल किसी आदमी के साथ और क्या हो सकता है कि उसकी नींद ठीक ब्राह्ममुहूर्त में खुल जाय, और, इसलिए नहीं, कि उस मुहूर्त के साथ उसका कोई अंतरंग रिश्ता अभी तक बचा हुआ है; बल्कि, मात्र इसलिए, कि उसका खाया-पीया उसकी आंत के बीचोबीच एक गांठ का गोला बन के फंस गया है। फिर भी...अपने बिस्तर पर एक औंधे पड़े 'कॉक्रोच' की तरह छटपटाता यह जीव अपने बावजूद कभी-कभार अपने भीतर ही भीतर सुरंग लगाकर कहीं और ही पहुंच जाता है, कुछ और ही अपने को बन जाते देखता है, जो दरअस्ल उस तरह कोई और नहीं, वह खुद ही है। हालांकि, ऐसा खुद, जिसे वह थोड़ी ही देर बाद शायद ठीक से याद भी नहीं कर पाता और जिसका इस सारी बदहजमी से—इस ग्लानि और गलाजत से—या तो कोई रिश्ता ही नहीं है, या है भी तो, बहुत ही दूर का, बेमालूम-सा रिश्ता है। ❖

आर्थिक समानता की जड़ में धनिक का ट्रस्टीपन निहित है। इस आदर्श के अनुसार धनिक को अपने पड़ोसी से एक कौड़ी भी ज्यादा रखने का अधिकार नहीं। तब उसके पास जो ज्यादा है, क्या वह उससे छीन लिया जाए? ऐसा करने के लिए हिंसा का आश्रय लेना पड़ेगा। और हिंसा के द्वारा ऐसा करना संभव हो तो भी समाज को उससे कुछ फायदा होने वाला नहीं है, क्योंकि द्रव्य इकट्ठा करने की शक्ति रखने वाले एक आदमी की शक्ति को समाज खो बैठेगा। इसलिए अहिंसक मार्ग यह हुआ कि जितनी मान्य हो सके, उतनी अपनी आवश्यकताएं पूरी करने के बाद जो पैसा बाकी बचे, उसका वह प्रजा की ओर से ट्रस्टी बन जाए। अगर वह प्रामाणिकता से संरक्षक बनेगा तो जो पैसा पैदा करेगा, उसका सद्व्यय भी करेगा। जब मनुष्य अपने-आप को समाज का सेवक मानेगा, समाज की खातिर धन कमाएगा, समाज के कल्याण के लिए उसे खर्च करेगा, तब उसकी कमाई में शुद्धता आएगी। उसके साहस में भी अहिंसा होगी। इस प्रकार की कार्य-प्रणाली का आयोजन किया जाए तो समाज में बगैर संघर्ष के मूक क्रांति पैदा हो सकती है।

इस प्रकार मनुष्य-स्वभाव में परिवर्तन होने का उल्लेख इतिहास में कहीं देखा गया है? ऐसा प्रश्न हो सकता है। व्यक्तियों में तो ऐसा हुआ है। बड़े पैमाने पर समाज में परिवर्तन हुआ है—यह शायद सिद्ध न किया जा सके। इसका अर्थ इतना ही है कि व्यापक अहिंसा का प्रयोग आज तक नहीं किया गया। हम लोगों के हृदय में इस झूठी मान्यता ने घर कर लिया है कि अहिंसा व्यक्तिगत रूप से ही विकसित की जा सकती है और वह व्यक्ति तक ही मर्यादित है। दरअसल बात ऐसी है नहीं। अहिंसा सामाजिक धर्म है, सामाजिक धर्म के तौर पर वह विकसित किया जा सकता है, यह मनवाने का मेरा प्रयत्न और प्रयोग है। यह नई चीज है, इसलिए इसे झूठ समझकर फेंक देने की बात इस युग में तो कोई नहीं कहेगा। यह कठिन है, इसलिए अशक्य है, यह भी इस युग में कोई नहीं कहेगा, क्योंकि बहुत-सी चीजें अपनी आंखों के सामने नई-पुरानी होती हमने देखी हैं। मेरी यह मान्यता है कि अहिंसा के क्षेत्र में इससे बहुत ज्यादा साहस शक्य है और विविध धर्मों के इतिहास इस बात के प्रमाणों से भरे पड़े हैं। समाज में से धर्म को निकालकर फेंक देने का प्रयत्न बांझ के घर पुत्र पैदा करने जितना ही निष्फल है; और अगर कहीं सफल हो जाए तो समाज का उसमें नाश है।

—मो. क. गांधी

संजीव मिश्र की कविताएं

रेत के गीत

मौन हवा के गहरे झोंके
एक बार रेती को छू
थम गए निपट सूने सहरा में

धोरों की धरती पर छायाएं गहराईं
सूरज भी चुपचाप छिप गया
आसमान के परे कहीं जाकर, रंग घोले
क्षितिज भर दिया
रेती को छूकर रंगों ने
कहा :
'हां, बीत रहा है कण-कण
यह आकार रेत का
क्षण-क्षण गढ़ा तुम्हारा जीवन
लिखा गया जिस पर है
लेकिन
कैसे तुमने मान लिया है
नहीं थमे हैं यहां
पुराने वे सारे आकार
जिन्हें नित बदल-बदल कर
इस क्षण की पहचान
बनी है'

•

'नहीं, तुम नहीं हो
सुइयां घड़ी की,
न एक नाम मिटता हुआ
तुम बदलना-भर हो, धोरों का
टिक-टिक के बीच का एक अंतराल
लिखा जाना, और मिटना
अनादि से अनंत तक में
यहां से वहां तक
जिसके बिना अनादि नहीं हो सकता
अनंत'

•

क्या करे इस रेत का कोई
कि जिसमें
बदलती लहरें सुनाती हैं
न जाने गीत कितने
बात कहती हैं
कभी कुछ तो
कभी कुछ
ज्वार-भाटे-सी

कभी आंखें जलातीं
पलक में घुसकर
कभी
मन शांत करती
रूप सुंदर धर

•

थार!
मैं तुम पर नहीं हूं कहीं
हो सकता नहीं,
मिट जाऊंगा, हर बार
ऊपर जब लिखूंगा नाम

मैं भीतर तुम्हारे हूं
तुम्हारी रेत हूं
जल हूं
लहर भर समय हूं।

शीलन

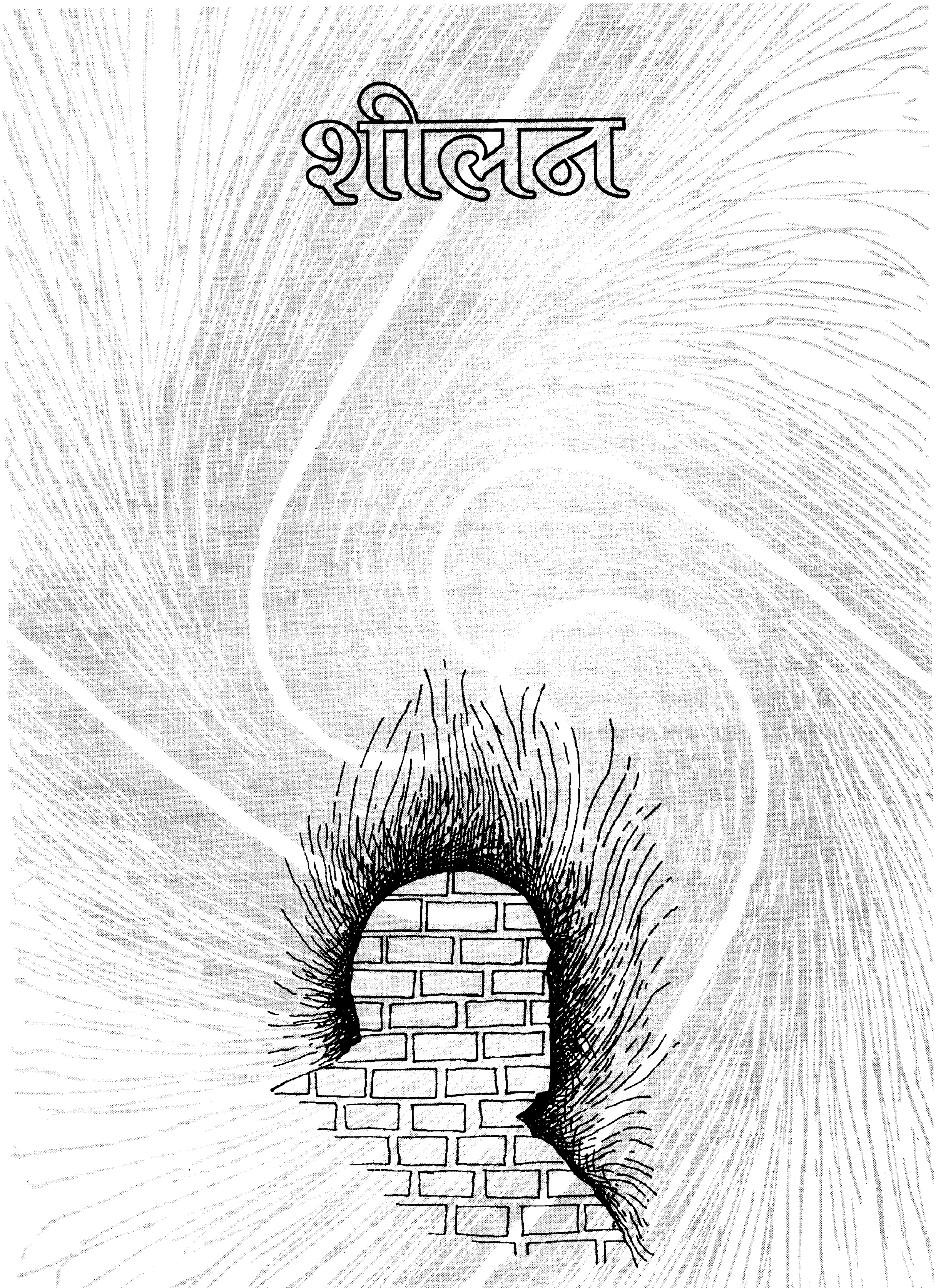

भारत ने जगतगुरु होने का एक भ्रम पाल रखा है। इससे जितनी जल्दी नजात मिले, उतना अच्छा। भारत ने यदि मानव सभ्यता को कुछ दिया है, तो उसने बहुत-कुछ लिया भी है। इस आदान-प्रदान के बिना हमारा सामाजिक-सांस्कृतिक विकास अवरुद्ध हो जाता।

हमारा दूसरा जातीय भ्रम है, हमारी समाज-व्यवस्था के आदर्श होने का। यदि व्यवस्था आदर्श और स्वयंपूर्ण थी तो वह समय-समय पर उठने वाली गंभीर समस्याओं का हल क्यों नहीं खोज सकी? विसंगतियों के कारण हमारी दुर्दशा क्यों हुई?

निःसंदेह हमारे पास उच्च आदर्शों और लक्ष्यों का अनमोल खजाना है, पर इनके संदर्भ में ही हम तीसरा भ्रम पाल रहे हैं। हमारे ऊंचे आदर्श हमारी जिंदगी में रसे-बसे नहीं हैं, हमारी कथनी और करनी में भारी अंतर है। क्या हम हृदय पर हाथ रख पूरी सचाई से कह सकते हैं कि हमारा आचार-विचार सत्य पर आधारित है? अहिंसा के देश में हिंसा का ज्वालामुखी क्यों फूट रहा है? अपरिग्रह की दुहाई देने वाले समाज में उपभोक्ता संस्कृति क्यों पनप रही है?

इक्कीसवीं सदी में प्रवेश की चर्चा चौथे भ्रम को जन्म दे रही है। हमारा ध्यान उच्च विज्ञान और तकनीकी पर केंद्रित है, हम उनके सांस्कृतिक पक्ष पर बहुत कम विचार कर रहे हैं। मानवीय मूल्यों और मानसिकता पर उनका क्या प्रभाव होगा? क्या यांत्रिकता और अमानवीकरण ही हमारे भविष्य हैं?

—श्यामाचरण दुबे

आकाश एक :
सूरज तीन-तीन

हर्षेंद्र श्री. रावल □ प्रतीक्षा एच. रावल

“बड़ी उम्र के लोगों की मनोसृष्टि में झांकने के लिए जिस प्रकार स्वप्न और उसके प्रतीकों को समझना जरूरी हो जाता है, उसी प्रकार बालकों की सृष्टि को समझने के लिए उनके बनाए हुए चित्रों को समझना पड़ता है। चित्र सिर्फ कला ही नहीं है, अभिव्यक्ति का माध्यम भी है। भाषा के द्वारा जो अभिव्यक्ति अच्छी तरह से नहीं हो सकती, वह चित्रों के द्वारा अधिक अच्छी तरह से हो सकती है। बालक भाषा के द्वारा अनेक बातें प्रस्तुत करने में कठिनाई अनुभव करते हैं और तर्कबद्धता एवं सामाजिक सभ्यता को सहेजकर अभिव्यक्ति करने में अनेक अवरोध आते हैं। चित्रों में तर्कबद्धता और सभ्यता—इन दोनों को भंग करने की स्वतंत्रता अमुक सीमा तक मिल जाती है, क्योंकि चित्र के प्रतीकों का अर्थ स्पष्ट तथा प्रत्यक्ष नहीं होता, अतः व्यक्ति को प्रस्तुतीकरण में संकोच नहीं होता।

•

चाहे हम कितने ही बड़े हो जाएं, फिर भी हमारे मन में कई बाल-सुलभ इच्छाओं और अप्रिय परिस्थिति के प्रति प्रतिक्रिया व्यक्त करने का भाव विद्यमान रहता है। जब ऐसी परिस्थिति पैदा हो जाए कि अब तो कुछ हो ही नहीं सकता, तब हमें भी जादू से एक के बजाय तीन सूरज आकाश में उन्मुक्त छोड़ने की जरूरत महसूस होती है। इस प्रकार ऐसी दशा में बालक के जैसी अभिव्यक्ति करके शायद हम प्रौढ़ व्यवहार की ज्यादा अच्छी तरह से सुरक्षा कर सकेंगे।”

चार-पांच बरस की एक बालिका ने चित्र बनाया। बीच में एक गुड़िया—छोटी बेबी का चित्र। बेबी के सिर के पास एक सूरज बनाया। दोनों पैरों के पास और दो सूरज बनाए। मजेदार रंग भरा। बीस से पचीस मिनट तक अलग-अलग ढंग से चित्र को पूरा करने की कोशिश चलती रही। लगा ही नहीं कि चित्र पूरा हो गया हो। अब भी उसे उसमें कुछ जोड़ना था। इसका उसे पता न था।

चित्र को लेकर बातचीत चली :

‘यह क्या बनाया है?’

‘यह तो गुड़िया है।’ (रुककर आगे बोलने लगी।) ‘मुझे लगता है, यह तो मैं ही हूं।’ (चित्र बनाने वाली खुद भी बेबी ही है।)

‘सुंदर, गुड़िया बहुत सुंदर है। लेकिन यह और क्या है?’

‘यह तो सूरज दादा हैं।’

‘सूरज दादा तो एक ही हैं। ये दो और बनाए हैं, ये क्या हैं?’

‘ये भी सूरज दादा हैं।’

‘सूरज दादा तो एक ही हैं, तुमने तीन कैसे बनाए?’

‘एक तो जो हैं, वे सूरज दादा हैं। लेकिन दूसरे दो सूरज तो इस बेबी ने (चित्र वाली गुड़िया ने) जादू से बना दिए हैं।’

‘क्यों? एक सूरज दादा से काम नहीं चलता? जादू से क्यों बनाने पड़े?’

‘मुझे रात पड़ना अच्छा नहीं लगता। सूरज दादा रात को अमेरिका चले जाएं तो जादू से बनाए सूरज के यहां होने पर यहां भी अंधेरा नहीं होगा। चारों तरफ उजाला ही होगा। कभी-कभी बादल भी सूरज दादा को ढंक देता है। तब तीसरा सूरज दादा होगा तो काम आएगा न!’

हकीकत में जो वस्तु मिल जाए उसे ले लेना और कम पड़े तो जादू से ले लेना। जिंदगी कितनी मजेदार बन जाती है बालक के लिए! चित्र में सूरज बना लिया तो संतोष मिल गया। संसार की छोटी-बड़ी समस्याओं का अपने ढंग से समाधान ढूंढ़ते बालक के मन की सृष्टि रचने की अपनी ही रीति है यह। बालक के साथ बातचीत करने से ही उसकी सृष्टि के दर्शन भलीभांति नहीं हो सकते, यह तो उनके चित्रों का अध्ययन करने से हो सकते हैं।

चित्र में बालक भांत-भांत के प्रतीक काम में लाते हैं। एक ही प्रतीक के बहुत-से अर्थ होते हैं। कई बार बालक एक ही अर्थ को दरसाने के लिए बहुत-से प्रतीक काम में लाते हैं। सूरज सिर्फ सूरज ही नहीं। उसमें दो-तीन बातें एक साथ

मिल जाती हैं। इस बालिका के दादाजी, जिनके साथ वह दिन के दो-चार घंटे रोजाना बिताती थी, वे अमेरिका चले गए हैं। सूरज दादा भी अस्त होते हैं, तो अमेरिका चले जाते हैं, इस बात का उसे पता है। एक दादाजी की बात से अब उसे संतोष नहीं। बालिका को लगता है कि दो-तीन दादाजी होने चाहिए, ताकि एक दादाजी अमेरिका चले जाएं तो दूसरे दादाजी पास में रहें। और दूसरे दादाजी भी थोड़ी देर के लिए कहीं बाहर चले जाएं तो तीसरे दादाजी भी तैयार रहने चाहिए, ताकि उनकी कमी महसूस न हो।

बड़ी उम्र के लोगों की मनोसृष्टि में झांकने के लिए जिस प्रकार स्वप्न और उसके प्रतीकों को समझना जरूरी हो जाता है, उसी प्रकार बालकों की सृष्टि को समझने के लिए उनके बनाए हुए चित्रों को समझना पड़ता है। चित्र सिर्फ कला ही नहीं है, अभिव्यक्ति का माध्यम भी है। भाषा के द्वारा जो अभिव्यक्ति अच्छी तरह से नहीं हो सकती, वह चित्रों के द्वारा अधिक अच्छी तरह से हो सकती है। बालक भाषा के द्वारा अनेक बातें प्रस्तुत करने में कठिनाई अनुभव करते हैं और तर्कबद्धता एवं सामाजिक सभ्यता को सहेजकर अभिव्यक्ति करने में अनेक अवरोध आते हैं। चित्रों में तर्कबद्धता और सभ्यता—इन दोनों को भंग करने की स्वतंत्रता अमुक सीमा तक मिल जाती है, क्योंकि चित्र के प्रतीकों का अर्थ स्पष्ट तथा प्रत्यक्ष नहीं होता, अतः व्यक्ति को प्रस्तुतीकरण में संकोच नहीं होता।

कई बार ऐसा होता है कि बालक कई बातें मन से स्वीकार नहीं सकते, लेकिन व्यवहार में उनको स्वीकार करना पड़ता है। ऐसी बातों को मन से स्वीकार करने के संबंध में अभी उनकी निर्मिति बहुत कच्ची होती है। ऊपर-ऊपर से वह बात स्वीकार कर ली हो, ऐसा लगता है, पर मन में उसने उसका दमन किया होता है। परिस्थिति पर उसका काबू न हो और सिर पर आ पड़ी आफत की तरह, वह बात उस पर लाद दी गई हो, तो बालक चित्र द्वारा—यदि उसे अवसर दिया जाए और इस दिशा में प्रोत्साहित किया जाए तो—अपने मन को इस तरह बहने देता है।

एकाध चित्र से शायद उसके बारे में भली-भांति जाना न जा सके, लेकिन बार-बार उसे ऐसे मुक्त चित्र बनाने की दिशा में प्रोत्साहित किया जाए तो वह अपने मन के संघर्षों, दबी हुई इच्छाओं और अप्रिय परिस्थिति के प्रति अपनी प्रतिक्रियाओं को तथा उन्हें लेकर अपने ढंग से समायोजित हो जाने की विधियों इत्यादि बहुत-सारी बातों को उन चित्रों में अज्ञात रीति से प्रस्तुत कर देता है। इन तमाम बातों की प्रस्तुति से दो लाभ होते हैं : एक तो इस रीति से भावनाएं व्यक्त हो जाने से इन वृत्तियों का भार मन को हलका बना देता है। दूसरा लाभ यह, कि कौन-सी बातें उसकी मनोसृष्टि में कैसे संदर्भ उत्पन्न कर देती हैं और उसके मनानुसार कौन-सी बातें महत्त्वपूर्ण हैं, इस बात की हमें जानकारी हो जाती है।

मात्र बालक ही नहीं, प्रौढ़ वय के लोगों के चित्रों में भी उनके लंबे समय के संघर्षों और उनकी इच्छाओं तथा परिस्थिति के प्रति आक्रामकता, घटनाओं को व्याख्यायित करने की अपरिपक्वता इत्यादि बातें उनके द्वारा बनाए गए चित्रों की एक या दूसरे स्वरूप में सटीक प्रतीक द्वारा बार-बार आती हैं। इस तरह चित्र बनाने का मुहावरा जारी रखने से व्यक्ति की इस प्रकार की अभिव्यक्ति अधिक निश्चित और कलात्मक बनती है। यदि व्यक्ति के मन में आक्रामकता भरी हो और वह वैसी की वैसी सीधी बाहर निकल आए तो सामाजिक संबंध संकट में पड़ जाते हैं और आदमी का चरित्र प्रकट हो जाता है। लेकिन उक्त प्रकार की कलात्मक अभिव्यक्ति के कारण आदमी उससे बच जाता है। चित्र के ऐसे चिकित्सकीय उपयोग के लिए चित्र की टेक्नीक नहीं वरन् अभिव्यक्ति के माध्यम के तरीके से बात अधिक महत्त्वपूर्ण बन जाती है।

चिकित्सालय में जब इस पद्धति का उपयोग किया जाता है तो व्यक्ति को बहुत समय प्रदान किया जाता है। चित्रकला के उपकरण भी पड़े होते हैं। दूसरे चित्रों की नकल करने से या पहले से कोई प्रतीक निश्चित करके चित्र बनाने से विशेष लाभ नहीं होता।

लेकिन बिना किसी पूर्व आयोजन के, पहले से सोचे या तय किए बिना ही मुक्त वातावरण में चित्रात्मक अभिव्यक्ति करने का आग्रह किया जाता है। चित्र 'सुंदर' ही हो, यह जरूरी नहीं। परंतु चित्र बनाने के बाद मन में राहत और हलकेपन के मनोभाव का अनुभव होना चाहिए। यदि चित्र बनाने के बाद भी मन भारी हो जाए तो इसका यह अर्थ हुआ कि अभी और अधिक चित्र बनाने की आवश्यकता है, क्योंकि जिस यथार्थ को प्रस्तुत होना था, वह अभी भलीभांति प्रस्तुत नहीं हुआ।

विशेष मनोवैज्ञानिक समस्याएं न हों, फिर भी अपने मन को सतत प्रवहमान और प्रभावी अभिव्यक्ति के द्वारा हलका रखने के लिए यह प्रवृत्ति विकसित की जाने लायक है। हमारे व्यक्तित्व में आने वाली भावनाओं के ज्वार-भाटे का संकेत अवश्य हमें जानने को मिलेगा। चाहे हम कितने ही बड़े हो जाएं, फिर भी हमारे मन में कई बाल-सुलभ इच्छाओं और अप्रिय परिस्थिति के प्रति प्रतिक्रिया व्यक्त

शेष पृष्ठ 49 पर

पचपदरा में संपन्न हुआ 138वां मर्यादा महोत्सव

जरूरत है अध्यात्म के अंकुश की

तेरापंथ धर्म संघ का 138वां मर्यादा महोत्सव (17-19 फरवरी, 2002) पश्चिमी राजस्थान के ऐतिहासिक नगर पचपदरा (बाड़मेर जिला) में श्रद्धा और उत्साह के साथ संपन्न हुआ। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी, युवाचार्यश्री महाश्रमणजी, साध्वीप्रमुखाश्री कनकप्रभाजी सहित संघ के साधु-साध्वीवृंद, समण-समणी और मुमुक्षु बहिनों सहित पूरे देश से आए हजारों श्रावक-श्राविकाओं की उपस्थिति में 19 फरवरी (माघ शुक्ला सप्तमी) को मुख्य कार्यक्रम संपन्न हुआ। इस कार्यक्रम में राजस्थान के मुख्यमंत्री श्री अशोक गहलोत सहित कई राजनीतिक नेताओं, प्रशासनिक अधिकारियों व विभिन्न समुदायों के प्रमुख जनों ने भी हिस्सा लिया।

माघ शुक्ला सप्तमी को मर्यादा महोत्सव का मुख्य कार्यक्रम जिस विशाल प्रांगण में हुआ, जनमेदिनी से वह प्रांगण पूरी तरह अटा पड़ा था। पचपदरा नगर के प्रमुख मार्ग और छोटी-बड़ी गलियां भी भारी चहल-पहल से जीवंत हो उठी थीं। मुख्य कार्यक्रम स्थल पर सर्वाधिक चित्ताकर्षक व श्रद्धास्पद दृश्य तो उस समय उपस्थित हुआ जब आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के स्मित संकेत पर श्वेत धवल वाहिनी पंडाल में उतर आई और वरिष्ठता क्रम से जो श्वेत धवल मेखला बनी तो लगा कि जैसे शांतिदूतों की इस कतार के बीच समूची जनमेदिनी सुरक्षित-संरक्षित हो गई है। इसी अवसर पर आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने अपने 'पुट्ठे' से मूल मर्यादा-पत्र निकालकर जब लोगों को उसका दिग्दर्शन कराया तो जैसे समूचा जन समूह रोमांचित-सा नजर आया। यही वह 'पन्ना' है जिसे संवत 1859 में आचार्य भिक्षु ने स्वयं लिखा, जो तेरापंथ धर्म संघ का 'आधार-पात्र' बन गया। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने इस 'मर्यादा-पत्र' का अवलोकन कराते हुए स्पष्ट किया कि हमारे संघ की समूची शक्ति इसी 'विधान-पत्र' में निहित है। फिर इसी विधान-पत्र का सस्वर पाठ हुआ, सभी साधु-साध्वी, समण-समणीगण ने भी साथ ही साथ इसका वाचन किया और इस 'मर्यादा-पत्र' के हर एक बिंदु पर अपनी श्रद्धा व निष्ठा प्रकट की।

इस अवसर पर आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने मर्यादाओं की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए हमारे दैनंदिन जीवन में अध्यात्म के अंकुश की जरूरत प्रतिपादित की। आचार्यश्री ने कहा कि अच्छे प्रशासन के लिए उस पर भी अध्यात्म का अंकुश जरूरी है। उन्होंने जोर देते हुए कहा—'दंडशक्ति का प्रयोग करने वालों पर भी अध्यात्म का अंकुश होना चाहिए।'

इस मर्यादा-पत्र को 'छोटा-सा पन्ना'—संज्ञा से अभिहित करते हुए आचार्यश्री ने कहा कि—मेरा मानना है कि बड़े-बड़े विधि निर्माताओं को भी यह पत्र पढ़ना-देखना चाहिए। आचार्य भिक्षु ने जो मर्यादाएं निर्मित की हैं वे अहिंसा के अनुशासन को परिपुष्ट करती हैं। 'तेरापंथ धर्म संघ परिवार' इतना बड़ा है, पर इसके संचालन में कभी कोई कठिनाई महसूस नहीं होती, क्योंकि संचालन के हमारे शस्त्र 'अहिंसक शस्त्र' हैं। सरलता, मृदुता, सहिष्णुता, आत्मीयता, आजीविका की व्यवस्था, पूज्यों का सम्मान आदि—ये सारे 'अहिंसक शस्त्र' हैं।

अहिंसक मर्यादा के आध्यात्मिक पक्ष को आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने बड़े सटीक तरीके से प्रस्तुत किया। उन्होंने बताया कि अहिंसक मर्यादा के आध्यात्मिक पक्ष में उपशम की चेतना का जागरण होगा तथा अहिंसक मर्यादा के व्यावहारिक पक्ष में संविभाग की चेतना का जागरण होगा। इसी तरह अहिंसक मर्यादा का स्वस्थ पक्ष होगा—आहार की मर्यादा का विधान और अहिंसक मर्यादा के विसर्जन पक्ष में अहंकार व ममकार का विसर्जन होगा।

मर्यादा महोत्सव के इस अवसर पर आचार्यश्री ने अपनी अहिंसा यात्रा का जिक्र भी किया। उन्होंने कहा कि हमारा ध्यान आतंक व युद्ध पर टिका हुआ है, इन सबकी हमारे पास मुकम्मल जानकारी है, लेकिन हमारे आस-पास हो रही आवेशजनित हिंसा पर ध्यान नहीं जाता है। आज व्यावसायिक हिंसा एक बड़ा खतरा बनी हुई है। इसलिए संयम और अहिंसा की प्रासंगिकता स्पष्ट नजर आ रही है। अहिंसा यात्रा के उद्देश्यों पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने कहा कि अहिंसा के व्यापक प्रशिक्षण की आज निहायत जरूरत है।

युवाचार्यश्री महाश्रमणजी ने मर्यादा महोत्सव की पूर्व संध्या पर आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की ओर से धर्म संघ के नाम दिए गए संदेश के मुख्य बिंदुओं का जिक्र किया और कहा कि इससे संघ को नई खुराक मिली है। मर्यादा और अनुशासन के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए युवाचार्यश्री ने स्पष्ट किया कि मर्यादा की सम्यक् अनुपालना तभी संभव

हो पाती है जब उसके प्रति हमारी पूर्ण निष्ठा हो। निष्ठा के अभाव में अनुपालना भी सही ढंग से नहीं हो पाती।

साध्वीप्रमुखाश्री कनकप्रभाजी ने कहा कि आचार्य भिक्षु क्रांतिकारी महापुरुष थे, जिन्होंने बीहड़ पथ को राजपथ में बदल दिया। अनेक संघर्षों के बावजूद संघ की मर्यादाओं के बल पर विकास के नए क्षितिज खुलते गए, अतः जरूरी है कि मर्यादाओं के प्रति हमारी आस्था व संकल्प मजबूत हों। महाश्रमणीजी ने कहा कि मर्यादाओं के प्रति निष्ठाशील बने रहने से ही हम युग की समस्याओं के समाधान में सहभागी बन सकेंगे।

समारोह में उपस्थित राजस्थान के मुख्यमंत्री श्री अशोक गहलोत, गुजरात से आए सुप्रसिद्ध विद्वान डॉ. कुमारपाल देसाई आदि ने भी अपने विचार रखे।

मर्यादा महोत्सव के मुख्य कार्यक्रम का संचालन पूरी दक्षता और सरसता के साथ मुनि लोकप्रकाशजी 'लोकेश' ने किया।

मर्यादा महोत्सव व्यवस्था समिति के अध्यक्ष श्री भंवरलाल बागरेचा व सिंवाची-मालाणी तेरापंथी सभा के अध्यक्ष पुखराज तलेसरा ने उपस्थित जन-समुदाय व अतिथियों का स्वागत किया। इस मौके पर पचपदरा कन्या मंडल व महिला मंडल ने सस्वर गीत का संगान किया। साध्वी श्रुतयशाजी, आरोग्यश्रीजी, अमृतप्रभाजी तथा समणी मंजुप्रज्ञाजी, निर्मलप्रज्ञाजी ने मर्यादा की महत्ता पर अपने विचार रखे। मुनि विनीतकुमारजी ने कविता, मुनि रजनीशकुमारजी व मुनि पीयूषकुमारजी ने सुमधुर गीत प्रस्तुत किए। इसी अवसर पर जैन श्वेतांबर तेरापंथी महासभा के नवनिर्वाचित अध्यक्ष श्री सुरेन्द्रकुमार चौरड़िया ने अपने संक्षिप्त विचार रखते हुए आचार्यश्री व संघ के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट की। श्री चौरड़िया ने महासभा की अपनी नई कार्यकारिणी की घोषणा भी की।

अखिल भारतीय तेरापंथ युवक परिषद के अध्यक्ष श्री पन्नालाल पुगलिया, तेरापंथी सभा, जसोल के अध्यक्ष श्री अशोककुमार ढेलड़िया व श्री सिद्धार्थ सालेचा ने भी अपने विचार रखे। श्री पदमचन्द पटावरी, पूर्व न्यायाधिपति श्री जसराज चौपड़ा व पूर्व वित्तमंत्री श्री चंदनमल बैद ने भी इस अवसर पर अपने विचार रखे।

इस मौके पर मुनिवृंद की ओर से भावपूर्ण समूहगीत प्रस्तुत किया गया। गीत के रचनाकार मुनि दिनेशकुमारजी को आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने 'इक्कीस कल्याणक' से पुरस्कृत किया। साध्वीवृंद की ओर से भी मर्मस्पर्शी भावों से भरा सुमधुर गीत प्रस्तुत किया गया।

अहमदाबाद से आई श्रीमती परिमिता पटवा लोढा ने अपने संपादन में प्रकाशित त्रैमासिक पत्रिका 'सूझबूझ आस-पास की' का पहला अंक आचार्यवर, युवाचार्यश्री व साध्वी-प्रमुखाजी को भेंट किया। श्रीमती लोढा ने इस त्रैमासिकी के बारे में संक्षिप्त जानकारी भी दी। शासनसेवी श्री जेसराज सेखानी ने कतिपय ऑडियो-वीडियो कैसेट उपहृत किए। साध्वी काव्यलताजी ने 'तुलसी की प्रेरक कथाएं' का हस्त-लिखित संकलन उपहृत किया। श्री सुरेन्द्रकुमार चौरड़िया ने अहिंसा यात्रा का पहला अंक भेंट किया। इस अवसर पर मोहनलाल कठौतिया सेवा कोष, दिल्ली की ओर से हर वर्ष दिए जाने वाले प्रेक्षा पुरस्कार की घोषणा हुई। मुंबई के श्री पारस दूगड़ के नाम की घोषणा श्री मदनलाल जैन ने की।

तीन दिवसीय मर्यादा महोत्सव के पहले दिन वसंत पंचमी के रोज हुए समारोह में साध्वीप्रमुखाश्री कनकप्रभाजी ने आचार्यश्री तुलसी के व्यक्तित्व और कृतित्व पर संपादित कृति—'मेरा जीवन : मेरा दर्शन' का छठा, सातवां और आठवां खंड आचार्यवर को अर्पित किया। इस ग्रंथ के पांच खंड पहले प्रकाशित हो चुके हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने इन खंडों के प्रकाशन पर अपनी प्रतिक्रिया प्रकट करते हुए कहा कि इस कार्य में साध्वीप्रमुखा ने काफी श्रम-साधना की है। यह एक कार्य ही ऐसा है जो अमर बनाने के लिए काफी है।

युवाचार्यश्री महाश्रमणजी ने महोत्सव के पहले दिन की महत्ता पर प्रकाश डाला और सेवा की नियुक्तियों की वांछनीयता व उपयोगिता पर अपने विचार रखे।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने महोत्सव के पहले दिन को सेवा की नियुक्ति का दिवस बताते हुए इसे कान-खिंचाई का दिन भी माना और कहा कि अनुशासन के विकास में इसका बड़ा महत्त्व है। आज ही के रोज विभिन्न क्षेत्रों में उल्लेखनीय काम करने वालों को सम्मानित भी किया गया। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने श्रावक की चार श्रेणियां बताते हुए अपने-अपने स्तर पर सभी के महत्त्व को प्रतिपादित किया। महोत्सव के पहले दिन के कार्यक्रम का संचालन मुनिश्री दिनेशकुमार ने किया।

मर्यादा महोत्सव का दूसरा दिन 'आचार्य पदाभिरोहण' दिवस के रूप में मनाया गया। आज ही के रोज आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का आठ वर्ष पूर्व पदाभिषेक हुआ था। पुलकित मन से सभी ने इस अवसर पर आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की अभिवंदना की।

इस अवसर पर विभिन्न वक्ताओं ने आचार्यवर के व्यक्तित्व और कृतित्व तथा उनके बहुविध अवदानों पर

अपने विचार रखे। पदारोहण समारोह का शुभारंभ समणीवृंद द्वारा 'अष्टकत्रयी' के पदों के संगान से हुआ। मुनि मुकुलकुमारजी, मुनि जितेंद्रकुमारजी व जयन्तकुमारजी ने अपनी-अपनी रचनाएं प्रस्तुत कीं।

साध्वी संघमित्राजी, साध्वी गोरांजी, साध्वी मुदितयशाजी, विश्रुतविभाजी और वंदनाश्रीजी ने भी अपने विचार रखे। साध्वी मंगलयशाजी ने सुमधुर गीत प्रस्तुत किया। बालमुनि मुदितकुमारजी सहित साधु-साध्वीवृंद, समणीगण और मुमुक्षु बहिनों ने भी श्रद्धासिक्त भावपूर्ण गीत प्रस्तुत किए। बालिका स्टेपी जिरावाला ने मुक्तकों में अपने भाव प्रकट किए। बालसाध्वियों ने विविध उपमाओं से आचार्यवर के व्यक्तित्व को रेखांकित किया।

इस अवसर पर मुनि जयकुमारजी ने अपनी ओजस्वी कविता से जन-समुदाय को रोमांचित व भावविभोर कर डाला, वहीं मुनि लोकप्रकाशजी 'लोकेश' ने सन् 2006 का चातुर्मास सिंवाची-मालाणी क्षेत्र में करने के लिए आचार्यश्री से ओजस्वी अपील की। आचार्यवर की टिप्पणी पर मुनि लोकेशजी ने शास्त्रों व उनके द्वारा दी हुई शिक्षाओं का उल्लेख करते हुए मातृऋण-चुकारे की विनम्र अपील की।

मुनि राकेशकुमारजी ने आचार्यश्री के व्यक्तित्व पर अपने विचार प्रकट किए, वहीं मुनि राजेंद्रकुमारजी ने अपनी काव्य रचना से अपने भाव व्यक्त किए। व्यवस्था समिति की ओर से श्री डूंगरमल बागरेचा ने अपनी श्रद्धा प्रकट की। साध्वी कमलश्रीजी ने हस्तशिल्प निर्मित कलश व विजयमाला आचार्यवर को अर्पित की। जब यह विजयमाला आचार्यवर ने अपने हाथों से युवाचार्यश्री के गले में डाली तो जनमेदिनी हर्षविभोर नजर आई।

इस अवसर पर प्रदेश के पूर्व मंत्री श्री ललितकिशोर चतुर्वेदी, चंद्रराज सिंघवी आदि ने अपने विचार प्रकट किए।

साध्वीप्रमुखाश्री कनकप्रभाजी ने अहिंसा यात्रा को जन-कल्याणकारी बताते हुए यह प्रतिपादित किया कि यह निर्जरा का महान कार्य है। उन्होंने आचार्यवर के व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों को छूते हुए उन्हें कालजयी सिद्ध किया।

युवाचार्यश्री महाश्रमणजी ने दो प्रकार के आचार्यों—संघ सुरक्षक आचार्य व प्रभावक आचार्य—का जिक्र करते हुए, आचार्यश्री महाप्रज्ञजी को दोनों ही श्रेणियों में प्रमुखतम बताया और उनके व्यक्तित्व के विभिन्न आयामों को उद्घाटित किया व कहा कि हम आचार्यवर के अवदानों का अधिक-से-अधिक लाभ उठाएं।

इस अवसर पर महाप्रज्ञजी ने क्रांतद्रष्टा आचार्यश्री तुलसी का स्मरण करते हुए वर्तमान की समस्याओं का धर्म के माध्यम से समाधान खोजने पर जोर दिया और कहा कि आज की समस्या का एक समाधान विसर्जन में निहित है। उन्होंने कहा कि विसर्जन वस्तुतः अनासक्ति के प्रयोग की प्रक्रिया है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने अपेक्षा की कि आज के दिन प्रत्येक व्यक्ति विसर्जन का संकल्प करे। महोत्सव के इस रोज भी बड़ी हाजरी का आयोजन हुआ। मुनि जम्बुकुमारजी व मुनि मुदितकुमारजी ने हाजरी लेख-पत्र का वाचन किया और सभी साधु-साध्वियों, समण-समणियों ने भी लेख-पत्र को दोहराया। मर्यादा महोत्सव के दूसरे रोज के कार्यक्रम का सफल संयोजन मुनि मोहजीतकुमारजी ने किया।

पचपदरा के मर्यादा महोत्सव की महत्त्वपूर्ण उल्लेखनीय बात यह रही कि मर्यादा महोत्सव व्यवस्था समिति पचपदरा ने लाडनूं से लेकर पचपदरा तक पूरी निष्ठा के साथ सेवा की। अनेक युवा कार्यकर्ता सक्रियता के साथ व्यवस्था से जुड़े रहे। मर्यादा महोत्सव के दौरान पचपदरा में आचार्यवर के प्रवासकाल तक व्यवस्था संबंधी हर छोटी-बड़ी बात को बारीकी से देखा, सम्हाला गया और प्रत्येक कार्य पूरी दक्षता के साथ करने का कार्यकर्ताओं का लक्ष्य स्पष्ट झलकता हुआ लोगों को नजर आया। आवागमन के रास्तों, सुरक्षा, सामान्य सुविधाओं, आवास व्यवस्था, स्वागत-सत्कार जैसे प्रत्येक बिंदु पर तत्परता से ध्यान देने की कोशिश परिलक्षित हुई। पहले से ही प्रवास-रत मुनि लोकप्रकाशजी 'लोकेश' के दिशा-निर्देशन की झलक समूचे आयोजन में परिलक्षित हो रही थी। मर्यादा महोत्सव के रोज सदैव की तरह इस बार भी चातुर्मासों की घोषणा आचार्यश्री ने की और इसके साथ ही 138वां मर्यादा महोत्सव अविस्मरणीय क्षणों में संपन्न हो गया। ❖

प्रस्तुतकर्ता : **भवानी सोलंकी**

आकाश एक : सूरज तीन....पृष्ठ 46 का शेष

करने का भाव विद्यमान रहता है। जब ऐसी परिस्थिति पैदा हो जाए कि अब तो कुछ हो ही नहीं सकता, तब हमें भी जादू से एक के बजाय तीन सूरज आकाश में उन्मुक्त छोड़ने की जरूरत महसूस होती है। इस प्रकार ऐसी दशा में बालक के जैसी अभिव्यक्ति करके शायद हम प्रौढ़ व्यवहार की ज्यादा अच्छी तरह से सुरक्षा कर सकेंगे। व्यवहार में बालक के जैसी अभिव्यक्ति को रोकने के लिए भी संभवतः हमें चित्रों के फलक पर ऐसी अभिव्यक्ति करने की जरूरत पड़ जाए। ❖

अनुवाद : **रामनरेश सोनी**

ईश्वर का बेटा

यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'

तीनों भाइयों ने काफी सोच-विचारकर एक निश्चय किया कि हमें दीवानजी के पास चलना चाहिए। दीवानजी को कह देंगे कि जो भी ऊलजलूल बातें हमारे बारे में फैल रही हैं, वे सब झूठी हैं। हमने मंदिर की पवित्रता के विरुद्ध कुछ भी गलत काम नहीं किया। तीनों भाइयों ने तय किया कि यदि दीवानजी चाहेंगे तो उन्हें भारी रकम गुप्त रूप से दे देंगे।

•

सूर्य के उगने के साथ ही मंदिर के आगे भीड़ लगनी शुरू हो गई। चुनाव में हिस्सा लेने वालों की सूची राजपुरोहित के सामने थी। लगभग अस्सी उम्मीदवार थे। राजा और उसके मंत्री बैठे थे। एक-एक उम्मीदवार को बुलाया जा रहा था। उसकी योग्यता, मंत्रोच्चारण की शुद्धता और उसकी इच्छाओं की जानकारियां ली जा रही थीं। प्रायः सभी उम्मीदवार ब्राह्मण थे। उनमें ब्राह्मणीय अभिमान कूट-कूट कर भरा हुआ था। उनमें एक बात सामान्य थी कि उनके रक्त में शुद्धता शत-प्रतिशत है। उन्होंने अपने पर अंत्यजों की छाया भी नहीं पड़ने दी है—इसका उन्हें घमंड था।

दोपहर तक सारी मुलाकातें खत्म हो गईं। राजा ने पूछा, 'क्या सबके सब उम्मीदवार आ गए?' एक अधिकारी ने बताया कि महाराज एक रह गया है। नाम है—विनम्रानंद।

अपने शयनकक्ष के बरामदे में बैठा राजा दुर्गाराम धूप का आनंद ले रहा था। ठंड बहुत हलकी थी। धूप सुहावनी लग रही थी। राजा के दो सेवक दरवाजे के दाएं-बाएं खड़े थे।

तभी रानी ने आकर कहा, 'महाराज! आप कई दिनों से परेशान नजर आ रहे हैं। क्या मैं आपकी परेशानी जान सकती हूं!'

'हां, महारानी, वैसे तो मेरी परेशानी कोई विशेष नहीं है, पर एक चिंता ने मुझे घेर रखा है।'

'बताइए भी महाराज।'

पल-भर के लिए राजा नेत्र मूंदे बैठा रहा। फिर उसने नेत्र खोले। आकाश को दृष्टि में भरकर कहा—'जब से मुख्य मंदिर के पुजारी का देहांत हुआ है, उस दिन से मैं चिंतित हूं। पुजारी के बेटे अयोग्य हैं। पंडित तो हैं, पर उनकी आदतें खराब हैं। तीनों के तीनों किसी-न-किसी दुर्व्यसन के शिकार हैं। ऐसी स्थिति में मंदिर की अकूत संपदा की रक्षा नहीं हो सकती।'

सेवक ने आसन ला दिया था। रानी उस पर बैठती हुई बोली, 'आपकी चिंता सही है, महाराज! आप यह परंपरा ही खत्म क्यों नहीं कर देते कि राजा का बेटा राजा, पुजारी का बेटा पुजारी हो। योग्यता के आधार पर पुजारी का चुनाव हो।'

राजा को रानी की बात अच्छी लगी। उसने कहा, 'हां, यही ठीक रहेगा। मैं नगर में ढिंढोरा पिटवा दूंगा कि मुख्य मंदिर के पुजारी का सार्वजनिक चुनाव होगा। जो योग्य समझा जाएगा उसे ही महाराज पुजारी बनाएंगे।'

दूसरे दिन यही ढिंढोरा पिटवा दिया गया।

× × ×

राजकीय मुख्य मंदिर नगर के उत्तर में एक पहाड़ी पर था। अत्यंत भव्य मंदिर था। श्वेत संगमरमर का बना हुआ था। चारों ओर हरियाली ही हरियाली। फलों के अनगिनत पेड़ और फूलों के विभिन्न पौधे। हर तरह से मनमोहक था मंदिर का पूरा परिसर और वह इलाका।

मंदिर में ही एक हिस्से में पुजारी के परिवार और अन्य कर्मचारियों के लिए घर बने हुए थे। ये सारे घर पद और प्रतिष्ठा के हिसाब से बने थे।

पुजारी के तीनों बेटों को जब पता चला कि हम इस पद से हटाए जाने वाले हैं तो वे घबरा गए। तीनों इकट्ठे हुए और सोचने लगे कि इसे कैसे रोका जाए। बड़े बेटे ने कहा, 'यह बरसों से चली आई परंपरा को सरासर तोड़ना है। हम तो शुद्ध ब्राह्मण हैं, पारंगत पंडित, हमारे साथ यह कैसे किया जा सकता है?'

मंझले बेटे ने इधर-उधर देखकर कहा, 'भैया! हम शुद्ध कहां हैं? हम तो सुरापान करते हैं।'

'चुप-बे। दीवारों के भी कान होते हैं।' बड़े ने मंझले भाई को डांटा।

सबसे छोटे ने कहा, 'हम तो कई बार नियमों के अनुसार पूजा भी नहीं करते। मैं तो समझता हूं कि हमारे दुष्कर्मों का ही यह दंड मिल रहा है।'

मंझले ने कान पकड़कर कहा, 'मुझे क्षमा करें भैया, इस मंदिर के इलाके में हिंसा भी हुई है। देवभूमि पर हिंसा करना कितना बड़ा पाप है। आपने एक मजदूर को नहीं पीटा?'

बड़ा बेटा जानता था कि उसने ही मंदिर की पवित्रता को भंग किया है, लेकिन जो हो गया, उसे मिटाया तो नहीं जा सकता, पर इस संकट को अब कैसे टालें।

तीनों भाइयों ने काफी सोच-विचारकर एक निश्चय किया कि हमें दीवानजी के पास चलना चाहिए। दीवानजी को कह देंगे कि जो भी ऊलजलूल बातें हमारे बारे में फैल रही हैं, वे सब झूठी हैं। हमने मंदिर की पवित्रता के विरुद्ध कुछ भी गलत काम नहीं किया। तीनों भाइयों ने तय किया कि यदि दीवानजी चाहेंगे तो उन्हें भारी रकम गुप्त रूप से दे देंगे।

गलत आदमी कभी सही सोच ही कैसे सकता है! जिनके संग 'सत्य' नहीं होता वे दुर्बल तो होते ही हैं। एक असत्य को छुपाने के लिए हजार झूठ भी बोलने पड़ते हैं।

पुजारी के तीनों बेटे दीवान की कोठी पर गए। दीवान अपने दीवानखाने में बैठा था। चौकीदार ने उससे जाकर निवेदन किया। दीवान ने उन्हें आने की इजाजत दे दी।

तीनों ने दीवान को नमस्कार किया।

दीवान ने उन्हें आसन देकर कहा, 'बोलिए पुजारी पुत्रो! कैसे आने का कष्ट किया?'

लंबी सांस भरकर बड़ा बेटा बोला, 'दीवानजी! आपने तो सुन ही लिया है कि महाराज अब पुजारी का चुनाव करेंगे...जबकि हम सात पीढ़ियों से पुजारी का काम कर रहे हैं...।'

'आप तीनों पर गैरचलनी का आरोप है।'

'यह झूठा है।'

'प्रमाण क्या है?'

'हम अच्छी तरह पूजा करते हैं। मंदिर के खजाने का हिसाब भी बराबर रखते हैं।'

'इसका भी प्रमाण देना होगा।'

'दीवानजी! हमारे पुरखों की सेवा का यह फल देना क्या उचित है?' बड़े बेटे ने दीवान को हाथ जोड़कर कहा, 'आप महाराजा को मनाइए। आपको हम राजी कर देंगे।'

'वह कैसे?'

मंझले बेटे ने झट से अपनी चादर के नीचे छिपाई लाल रंग की थैली निकालकर दीवान के सामने रख दी।

दीवान ने चौंककर पूछा, 'इसमें क्या है?'

बड़े बेटे ने खीसें निपोरते हुए कहा, 'आपको खुश करने का मसाला।'

छोटे बेटे ने हंसते हुए दबे स्वर में कहा, 'घूऽऽस्स!'

'चुप-बे!' बड़ा भाई भड़का, 'दीवानजी! यह बच्चा है। नासमझ है। इसकी बात का बुरा न मानिए।'

दीवान ने थैली उठा ली। यह धन ऐसी वस्तु है जो गुणीजन, साधु-संन्यासी और ईमानदार को भी तुरंत भ्रष्ट कर देता है। दीवान भी धन के लालच में आ गया।

दूसरे दिन दीवानजी। राजा के पास गए। राजा ने कहा, 'आइए दीवानजी!'

'प्रणाम महाराज!' दीवान ने हाथ जोड़े। फिर कहा, 'महाराज! पुजारी के लिए यह चुनाव कैसा? पीढ़ी-दर-पीढ़ी एक ही वंश के पुजारी होते आए हैं।'

'हमें मालूम है।' महाराज ने कहा।

'फिर यह नई बात क्यों?'

'क्योंकि ये तीनों जने न तो मंदिर की पवित्रता रख रहे हैं, न मर्यादाएं और न कोष की रक्षा।' महाराज का उत्तर था।

'प्रमाण?' दीवान ने दबी जुबान पूछ ही लिया।

कड़कते हुए राजा बोला, 'जो प्रत्यक्ष है, उसे प्रमाण की आवश्यकता नहीं।'

'क्या आपने...?'

दीवान की बात काटते हुए राजा हंस पड़ा। बोला, 'राजा वंश-परंपरा से जरूर होता है, पर वह तभी सिंहासन पर अधिकार रख सकता है जब अपनी दो आंखों से वह हजार आंखों की भांति देखे।'

'फिर भी...।'

'दीवानजी! जो राजा नशे में मदहोश होकर सोता है, वह अपना सर्वस्व खो देता है और जो श्वाननिद्रा सोता है, वह कभी अपना राज्य नहीं खोता।' राजा ने एक पल चुप रहकर कहा, 'नीति कहती है कि किसी पद पर एक ही अधिकारी को लंबे काल के लिए रख लिया जाए तो वह अधिकारी भ्रष्ट हो जाता है।' एकाएक राजा ने जैसे विस्फोट ही किया हो, 'जैसे आप हैं दीवानजी! आप पिछले पंद्रह वर्ष से दीवान हैं, इसलिए आप.... क्या पुजारी के बेटों से रिश्वत लेकर उनकी सिफारिश करने के लिए आ गए यहां?' राजा अपने आसन से खड़े हो गए। कड़ककर बोले, 'बहुत हो गया दीवानजी! झूठ का साथ अपनी जबान भी नहीं देती है। झूठ की सजा बड़ी भयंकर होती है।'

दीवान कांप उठा। झूठ के पांव कच्चे ही तो होते हैं। दीवान ने अपराधी की तरह सिर झुकाकर कहा, 'हां! मैंने रिश्वत ली है महाराज! मैं दंड पाने योग्य हूं।'

'आपको मैं पद से हटाता हूं।' राजा का स्वर सहसा द्रवित हो गया। बोला, 'आपने इस राज्य की अच्छी सेवा की है, अतः आपके परिवार के भरण-पोषण की व्यवस्था राजकोष से की जाएगी। बस! आपका परिवार अभाव में स्वभाव न बिगाड़े।'

दीवान चला गया। खोटी कमाई ने दीवान की प्रतिष्ठा को भी धूल-धूसरित कर दिया।

× × ×

पुजारी के चुनाव का दिन आया।

राजा ने स्वयं यह बीड़ा उठाया कि वही पुजारी का चुनाव करेगा।

सूर्य के उगने के साथ ही मंदिर के आगे भीड़ लगनी शुरू हो गई। चुनाव में हिस्सा लेने वालों की सूची राजपुरोहित के सामने थी। लगभग अस्सी उम्मीदवार थे। राजा और उसके मंत्री बैठे थे। एक-एक उम्मीदवार को बुलाया जा रहा था। उसकी योग्यता, मंत्रोच्चारण की शुद्धता और उसकी इच्छाओं की जानकारियां ली जा रही थीं। प्रायः सभी उम्मीदवार ब्राह्मण थे। उनमें ब्राह्मणीय अभिमान कूट-कूट कर भरा हुआ था। उनमें एक बात सामान्य थी कि उनके रक्त में शुद्धता शत-प्रतिशत है। उन्होंने अपने पर अंत्यजों की छाया भी नहीं पड़ने दी है—इसका उन्हें घमंड था।

दोपहर तक सारी मुलाकातें खत्म हो गईं। राजा ने पूछा, 'क्या सबके सब उम्मीदवार आ गए? एक अधिकारी ने बताया कि महाराज एक रह गया है। नाम है—विनम्रानंद।

'क्या वह आया नहीं?'

'लगता तो महाराज ऐसा ही है।'

उसी समय एक युवक आया। उसने हाथ जोड़कर कहा, 'महाराज! यह तुच्छ प्राणी ही विनम्रानंद है।'

'तुम देर से क्यों आए?'

विनम्रानंद ने हाथ जोड़कर कहा, 'महाराज! मैं तड़के सुबह ही यहां आ गया था। जिस रास्ते से आम जनता भगवान के दर्शन करने आती है, उस रास्ते पर कंटीली झाड़ियां और झंखाड़ बहुत हैं। दर्शन करने वाले बहुत दुख उठाते हैं, उनके पांवों में कांटे चुभ जाते हैं, शरीर छिल जाते हैं। वस्त्र फट जाते हैं।...एक बच्चा तो झाड़ी में छुपे सांप से डरकर चीख ही पड़ा था। तब मैंने तय किया कि जो मंदिर में दर्शन के लिए आते हैं, पहले

मैं उनकी सुविधा का खयाल तो करूं, तभी तो उनका पुजारी बन सकूंगा। बस, मैं उसी झाड़-झंखाड़ को हटाकर रास्ता साफ करने में लग गया। इसी में मुझे देर हो गई महाराज! मैं देरी के लिए क्षमा चाहता हूं।'

महाराज ने पूछा, 'तुम्हारी जाति क्या है?'

'मैं श्रेष्ठ कुल का हूं।'

'किसके बेटे हो?'

'मैं ईश्वर का बेटा हूं।'

राजा चौंक पड़ा, 'कैसे?'

'सारे मनुष्य ईश्वर की ही संतान हैं। मैं अनाथ हूं, ईश्वर का बेटा ही तो होता है अनाथ। पढ़ा-लिखा हूं। पूजा-मंत्रों को जानता हूं, महाराज! जो भी कमी होगी, वह किसी गुरु के निर्देश से दूर कर लूंगा।'

महाराज ने मंत्रियों से सलाह की। फिर बाहर आकर घोषणा की, 'उपस्थित महानुभावो! पुजारी के पद का चुनाव हो गया है। मुझे जाति, धर्म और कुल-अभिमानी पुजारी नहीं चाहिए। मुझे चाहिए मनुष्य-पुजारी...दूसरों के दुखों को दूर करने वाला। अभिमान-रहित, ...जो देवताओं के पुत्रों 'मनुष्यों' की सेवा करने वाला हो....विनम्रानंद मंदिर का पुजारी हुआ। यह मनुष्य है, करुणाभरा मनुष्य। मुझे मनुष्य ही चाहिए।'

सबने जोर-जोर से तालियां बजाईं। ❖

पुरुषार्थ का फल

एक आदमी था। उसके दो लड़के थे। बड़ा लड़का बहुत ही परिश्रमशील था। वह अपने को कार्य में व्यस्त रखता। खूब काम करता। छोटा भाई आलसी था। वह हाथ-पर-हाथ रखे बैठा रहता और चाहता कि दूसरे उसके लिए सब-कुछ कर दें।

पिता का अंत समय आया तो उसने दोनों लड़कों को अपने पास बुलाया और जो-कुछ उसके पास था, उनमें बांट दिया। बड़े प्यार से कहा, 'मेरे बच्चो, जीवन पुरुषार्थ का नाम है, कर्म का पर्याय है। जितनी मेहनत करोगे, उतनी ही सफलता तुम्हें मिलेगी।' एकांत में उसने छोटे बेटे से कहा, 'तुम्हारे खेत में मैंने रुपए गाड़ दिए हैं। मेरे मरने के बाद उन्हें निकाल लेना।'

पिता के जाने के बाद बड़े भाई ने अपने पुरुषार्थ से पिता ने जो-कुछ दिया था, उसे कई गुना बढ़ा लिया और आनंद से रहने लगा। छोटे भाई ने प्रमाद में सब-कुछ गंवा दिया। विपन्नावस्था में अचानक उसे याद आया कि पिता ने उसके लिए खेत में रुपए गाड़ दिए थे, पर उन्होंने यह नहीं बताया था कि कहां? उसने सारा खेत खोद डाला, पर रुपए उसे नहीं मिले।

निराश होकर वह बड़े भाई के पास गया और अपनी व्यथा कह सुनाई। सुनकर बड़े भाई ने कहा, 'तुम पिता के आखिरी शब्द भूल गए। उन्होंने कहा था—जितनी मेहनत करोगे उतनी ही सफलता मिलेगी। उन्होंने खेत में रुपए नहीं गाड़े। तुम्हें मेहनत करने का सबक दिया। तुमने खेत की खुदाई कर डाली, अब उसमें बीज बोओ और देखो कि क्या नतीजा निकलता है।'

छोटे भाई ने वही किया। कुछ समय में उसके खेत में ऐसी फसल उगी कि उसका सारा दुख दूर हो गया। उसका जीवन बदल गया।

—यशपाल जैन

जैन श्वेतांबर तेरापंथी महासभा का 88वां अधिवेशन संपन्न

सुरेन्द्र चौरड़िया अध्यक्ष व रणजीत कोठारी प्रधान न्यासी निर्वाचित

जैन श्वेतांबर तेरापंथी महासभा का 88वां वार्षिक अधिवेशन 18 फरवरी, 2002 को पचपदरा में संपन्न हुआ। मर्यादा महोत्सव के अवसर पर ही प्रतिवर्ष होने वाले वार्षिक अधिवेशन की इस बार खास महत्ता रही। हर दो साल बाद महासभा की नई कार्यकारिणी के गठन की कड़ी में इस अधिवेशन में महासभा के पदाधिकारियों का चुनाव भी संपन्न हुआ। इसी वजह से यह अधिवेशन अधिक महत्त्वपूर्ण रहा।

महासभा के महामंत्री श्री भंवरलाल सिंघी ने विगत वर्ष के कार्यों का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया। अपने प्रतिवेदन में महासभा को तेरापंथ समाज का मेरुदंड बताते हुए विगत 88 वर्षों से अपने दायित्वों का कुशलतापूर्वक निर्वहन करने की बात श्री सिंघी ने अपने प्रतिवेदन में कही और आचार्यश्री महाप्रज्ञजी, युवाचार्यश्री महाश्रमणजी, साध्वीप्रमुखाश्री कनकप्रभाजी व महासभा प्रभारी शासनगौरव मुनि मधुकरजी व सहप्रभारी मुनि धर्मरूचिजी के कुशल निर्देशन के प्रति अपनी कृतज्ञता भी प्रकट की।

श्री सिंघी ने अपने प्रतिवेदन में शासनगौरव साध्वी कमलुजी के 20 दिन के संथारे में स्वर्गस्थ होने की पावन स्मृति का स्मरण किया। महासभा के पूर्व प्रधानमंत्री समाज-भूषण श्रीचंदजी रामपुरिया के प्रति भी श्रद्धांजलि व्यक्त की गई। समाज के कई अन्य वरिष्ठ दिवंगत अनाम श्रावक-गणों की उल्लेखनीय सेवाओं का स्मरण भी किया गया।

प्रतिवेदन में महासभा के संगठन संबंधी कार्यों का उल्लेख करते हुए बताया गया कि अब तक देश-विदेश की 334 तेरापंथी सभाएं महासभा से संबद्ध हो चुकी हैं। जिन संस्थाओं ने अब तक संबद्धता (एफिलिएशन) नहीं ली है, उनको सूचित किया गया है और कहा गया है कि बिना संबद्धता के संघीय मान्यता नहीं दी जा सकेगी।

प्रतिवेदन में बताया गया कि इस समय महासभा के 2604 आजीवन सदस्य हैं। यह चाहा गया है कि विभिन्न क्षेत्रों से श्रावक-श्राविकाएं महासभा की सदस्यता ग्रहण करें।

प्रतिवेदन में बताया गया कि स्थानीय सभाओं की गतिविधियों, योजनाओं व क्षेत्रीय समस्याओं को जानने के लिए 'सर्वेक्षण प्रश्नावली' उन्हें भेजी गई है।

प्रतिवेदन में संगठन यात्राओं का जिक्र करते हुए बताया गया कि महासभा के प्रतिनिधियों के एक दल ने तमिलनाडु की यात्रा की। इसका नेतृत्व महासभा के अध्यक्ष श्री भंवरलाल डागा ने किया। इस यात्रा में 32 क्षेत्रों का अवलोकन किया गया। महासभा उपाध्यक्ष श्री मांगीलाल छाजेड़ (बैंगलोर), श्री बाबूलाल आच्छा व श्री इन्द्रचन्द बोहरा (चैन्नई) भी इस यात्रा में साथ थे। तमिलनाडु प्रांत के दूसरे चरण की यात्रा 20/6/2001 से 9/7/2001 तक हुई। इस यात्रा में महासभा अध्यक्ष श्री डागा के साथ उपाध्यक्ष सर्वश्री मांगीलाल छाजेड़, मूलचन्द डागा, किशन

रपट

डागलिया व बाबूलाल आच्छा भी थे। कार्यसमिति सदस्य श्री इन्द्रचन्द बोहरा व अमृत संसद सदस्य श्री सुरेश मूथा भी इस यात्रा में साथ थे।

प्रतिवेदन में जैन भारती मासिक पत्रिका का उल्लेख भी किया गया और बताया गया कि इसकी प्रकाशन संख्या बढ़कर 5900 तक पहुंच गई है। पत्रिका में स्तरीय सामग्री के प्रति संतोष प्रकट करते हुए पाठकों की संख्या में बढ़ोतरी के लिए सभी को अपने दायित्व का स्मरण दिलाया गया।

प्रतिवेदन में ज्ञानशाला जैसी महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति का उल्लेख करते हुए बताया गया कि इस समय 158 ज्ञानशालाएं पंजीकृत हैं, 18 ज्ञानशालाएं पंजीयन श्रेणी में हैं और 20 नए क्षेत्रों में ज्ञानशाला के संचालन हेतु संपर्क किया जा रहा है।

प्रतिवेदन में ज्ञानशाला के विभिन्न उपक्रमों पर भी रोशनी डाली गई।

प्रतिवेदन में कहा गया कि 'समण श्रेणी' के बाद 'उपासक मंडल' की नई श्रेणी तैयार हुई है।

महासभा पिछले 9 वर्षों से उपासकों के प्रशिक्षण शिविर आयोजित कर रही है। आलोच्य वर्ष में बीदासर में संपन्न 9 दिवसीय उपासक प्रशिक्षण शिविर में 12 प्रदेशों से 80 संभागियों ने प्रशिक्षण प्राप्त किया। बीदासर में ही मुंबई के 66 संभागियों का प्रशिक्षण शिविर इसी अवधि में लगा।

प्रतिवेदन में बताया गया कि इस वर्ष 57 उपासक देश-विदेश के 25 क्षेत्रों में गए।

महासभा के प्रतिवेदन में उपासना कक्ष की जानकारी भी दी गई। उपासना कक्ष के लिए पुस्तक प्रकाशन का जिक्र करते हुए बताया गया कि इसका संपादन व संकलन शासन-गौरव मुनि मधुकरजी ने किया। उपासना कक्ष स्थापित करने के लिए विभिन्न आकारों के दस चित्रों का निर्माण भी महासभा ने किया। प्रतिवेदन में कर्मणा जैन प्रवृत्ति के बारे में भी जानकारी दी गई। अब तक 15 प्रदेशों में 6160 कर्मणा जैन बने हैं। इनकी सार-सम्हाल व नए कर्मणा जैन के लिए प्रतिवेदन में चिंतन की अपेक्षा की गई है।

मर्यादा महोत्सव के अवसर पर उल्लेखनीय कार्यों के लिए महासभा श्रावक-श्राविकाओं को प्रतिवर्ष 'संबोधन अलंकरण' से सम्मानित करती आई है। इस वर्ष 17 फरवरी को पचपदरा में संबोधन अलंकरण अर्पित किए गए। इसी अवसर पर 'समाज भूषण' अलंकरण भी अर्पित किए गए। महासभा का यह सर्वोच्च सम्मान हैं।

प्रतिवेदन में होम्योपैथिक चिकित्सालय, पुस्तकालय व वाचनालय, छात्रवृत्ति, कंप्यूटर विभाग, तेरापंथ प्रचेता आदि प्रवृत्तियों व उपलब्धियों का जिक्र भी किया गया है।

प्रतिवेदन में साहित्य प्रकाशन का उल्लेख करते हुए बताया गया कि इस वर्ष चार महत्त्वपूर्ण पुस्तकों का प्रकाशन किया गया। उपासकों के प्रशिक्षण के लिए श्रम और समय का नियोजन कर युवाचार्यश्री महाश्रमणजी ने उपासना भाग-1 व उपासना भाग-2 की संपूर्ति की। इसी तरह शासनगौरव मुनि बुद्धमलजी ने तेरापंथ का इतिहास खंड-2 की संपूर्ति की। मुनि सुमेरमलजी (लाडनूं) द्वारा संकलित तेरापंथ दिग्दर्शन (1998-99) भी प्रकाश में आया। शासनगौरव मुनि मधुकरजी द्वारा संपादित व संकलित पुस्तक 'उपासना कक्ष' का प्रकाशन भी हुआ।

प्रतिवेदन में बताया गया कि पुस्तकों की मांग निरंतर बढ़ रही है।

प्रतिवेदन में महासभा के केंद्रीय कार्यालय भवन, कोलकाता के नवीनीकरण व सुसज्जा पर विस्तार से जानकारी दी गई। इस कार्य में समाज के जिन-जिन लोगों का सहयोग प्राप्त हुआ उनका उल्लेख भी प्रतिवेदन में हुआ है।

महामंत्री श्री सिंघी ने अपने प्रतिवेदन में विगत अवधि में महासभा के कार्यों में योगदान के लिए नामोल्लेख करते हुए सभी के प्रति कृतज्ञता प्रकट की।

महासभा के इसी अधिवेशन में अगले दो वर्षों के लिए नई कार्यसमिति का गठन भी संपन्न हुआ। विधान के अनुसार महासभा अध्यक्ष का निर्वाचन कराया गया। चाड़वास निवासी व कोलकाता प्रवासी **श्री सुरेन्द्रकुमार चौरड़िया** सर्वसम्मति से अध्यक्ष निर्वाचित हुए। महासभा के 'चीफ ट्रस्टी' के पद पर टमकौर निवासी व कोलकाता प्रवासी **श्री रणजीतसिंह कोठारी** चुने गए।

नवनिर्वाचित अध्यक्ष श्री सुरेन्द्र चौरड़िया ने कार्यसमिति के पदाधिकारियों की घोषणा मर्यादा महोत्सव के दौरान ही कर दी। घोषणा के अनुसार उपाध्यक्ष पद पर **सर्वश्री मूलचंद डागा व भंवरलाल बैद** (कोलकाता), **किशनलाल डागलिया** (मुंबई), **शैलेश के. झवेरी** (सूरत) व **मर्यादाकुमार कोठारी** (जोधपुर, राजस्थान) मनोनीत किए गए।

श्री चौरड़िया ने महामंत्री के पद पर **श्री तरुण सेठिया** (कोलकाता) व **श्री विजयसिंह चौरड़िया** को सहमंत्री मनोनीत किया, जबकि कोषाध्यक्ष पद पर **श्री प्रकाश बैद** (कोलकाता) मनोनीत किए गए।

महासभा के ट्रस्ट मंडल के प्रमुख न्यासी **श्री रणजीत सिंह कोठारी** (कोलकाता) सहित अन्य न्यासियों का चुनाव भी निर्विरोध हुआ। **सर्वश्री कन्हैयालाल छाजेड़** (लाडनूं, राजस्थान), **मांगीलाल छाजेड़** (बैंगलोर), **धर्मचन्द राखेचा** (कोलकाता), **शुभकरण नौलखा** (सिलीगुड़ी), **भीखमचन्द पुगलिया** (कोलकाता), **सुरेन्द्रकुमार दूगड़** (कोलकाता) व **भंवरलाल डागलिया** (मुंबई) न्यासी के रूप में निर्विरोध घोषित किए गए। इसी अधिवेशन में तीन आरबीट्रेटर— **सर्वश्री ताराचन्द रामपुरिया** (कोलकाता), **मीनालाल बरड़िया** (कोलकाता) व **लक्ष्मणसिंह कर्णावट** (उदयपुर-राजस्थान) भी निर्विरोध घोषित हुए। महासभा के नवनिर्वाचित अध्यक्ष श्री सुरेन्द्रकुमार चौरड़िया ने महासभा के सभी सदस्यों के प्रति आभार प्रकट करते हुए कहा कि नैतिक-आध्यात्मिक पुनरुत्थान के लिए आचार्यश्री के सपनों को साकार करने में सभी जन संगठित हो सक्रिय होंगे।

इसके साथ ही महासभा ने निवर्तमान अध्यक्ष **श्री भंवरलाल डागा** ने नवनिर्वाचित अध्यक्ष व प्रधान न्यासी का स्वागत किया। साथ ही विगत अवधि में मिले सहयोग के लिए समाज, महासभा सदस्यों व पदाधिकारियों के प्रति भी डागाजी ने आभार स्वीकार किया। उपस्थित सदस्यों ने भी नवनिर्वाचित अध्यक्ष व प्रधान न्यासी को बधाइयां दीं।

इस प्रकार नए ओज, उत्साह और संकल्पों के साथ महासभा का 88वां अधिवेशन संपन्न हुआ। ❖

—भ. सो.

जैन भारती पाठक पहेली - 0023

सर्वशुद्ध हल व विजेताओं के नाम

1 स	म	2 ज		3 क	म	4 ल		5 मा	6 प
म		यं		द		ग			ह
7 य	8 श		9 ब	म		भ			रा
	री		ह			10 ग	री	ब	
11 स	र		12 स	मा	13 ज				14 किं
विं		15 प			16 न	वा	जि	17 श	
ये		18 द	19 रा	र				20 वा	यु
21 द	22 ल		म		23 अ	24 मा	व	स	
	घु		से			गू		25 न	ष्ट
26 मां		27 मि	न	ट		28 ल	ग		

प्रथम चयनित विजेता—अनिता जैन, भगवतगढ़

अन्य दस चयनित विजेता

1. दीपिका पोरवाल, उदयपुर
2. प्रेम सेठिया, नई दिल्ली
3. शशि जैन, हिसार
4. अमृतलाल जैन, कोप्पल
5. सरोज सेठिया, मुंबई
6. सुनिता मुनोत, बोरावड़
7. सायरदेवी नाहटा, भादरा
8. एम. चन्द्रा, मदुरई
9. टीना जैन, जयपुर
10. संतोष सोलंकी, बैंगलोर

जैन भारती पाठक पहेली के सभी पुरस्कार (प्रारंभ से ही) बंशीलाल श्रीमाल चेरीटेबल ट्रस्ट तिरपाल उद्योग, फैंसी बाजार, गुवाहाटी (असम) के सौजन्य से।

जैन भारती पाठक पहेली - 0024

सर्वशुद्ध हल व विजेताओं के नाम

1 र	दा	व	2 सो		3 फ	ल	स्व	रू	4 प
सा			5 म	हा	न				थि
य			भ			6 सं	वा	7 ह	क
8 न	9 म		10 द्र	11 वि	त			ल	
	12 न	13 ए		श्व		14 दा	न		15 र
16 ग		17 व	न्य		18 प	ल		19 वा	स
20 म	ह	ज			रा			च	
न			21 ल	गा	व		22 प	क	ड़ा
	23 क		क्ष		र्त				
24 स	र्म	प	ण		25 न	म	क		26 हि

प्रथम चयनित विजेता—ललित चंडालिया, औरंगाबाद

अन्य दस चयनित विजेता

1. महावीर सोलंकी, बैंगलोर
2. ललित के. घोका, औरंगाबाद
3. पुखराज चौरड़िया, राजामूंदड़ी
4. उमराव बोथरा, बीकानेर
5. स्नेहलता पी. बम्ब, नवी मुंबई
6. किशोर नाहर, कुरेली
7. पुष्पा नाहटा, कोलकाता
8. नवल सुखानी, फारबिसगंज
9. सोहनलाल, गुडीयातम
10. ऋषभ सिपानी, बैंगलोर

जैन भारती पाठक पहेली के सभी पुरस्कार (प्रारंभ से ही) बंशीलाल श्रीमाल चेरीटेबल ट्रस्ट तिरपाल उद्योग, फैंसी बाजार, गुवाहाटी (असम) के सौजन्य से।

With best compliments from :

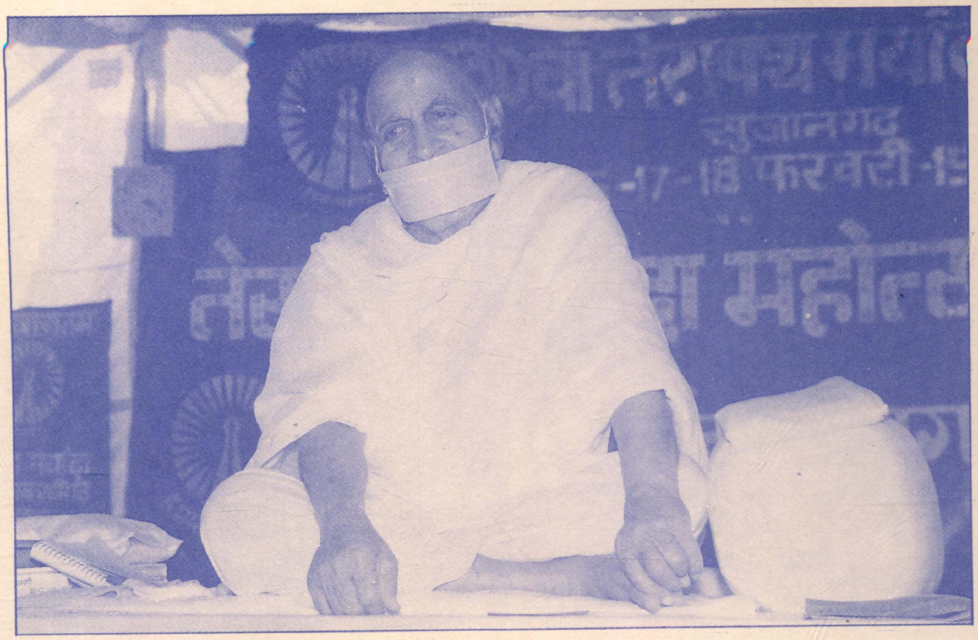

AMIT®
A CHOPRA PRODUCT
Mfg. Art Silk Sarees & Dress Material

AMIT - SYNTHETICS

Shop : W-3207, Surat Textile Market
Office : 402, Anand Market, Ring Road
SURAT 395002
Phone : 622076, 625680, 622027 Fax : 0261-636651

Pemchand Chopra Charitable Trust
W-3207, Surat Textile Market
Ring Road, SURAT

•

Jhamkudevi Chopra Charitable Trust
11-A,B, Sai Ashish Society
Udhaua Magdalla Road, SURAT

जैन भारती, जून, 2002 ■ भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पं. सं. : आर जे/डब्ल्यू आर /11/48/2000

We owe it to you Customers !

It is easy to be No. 1, but difficult to remain there. But, we have been doing it for the past 5 years with our dedicated services and thanks to the invaluable support & trust in us by our valued customers. With promptness in-built, we have been serving the Indian Industries tirelessly against their requirements of **Bearings, Grease, Seals, Blocks, Sleeves & accessories** and **a variety of Maintenance Products** and **Condition Monitoring systems of SKF.** The New Millennium is on; an era that will bring forth a fresh batch of discoveries, newer wonders in technology, a greater fillip to standards of life as a whole. Rest assured, Premier (India) Bearings Limited will remain very much a participant to this absorbing, all-engaging process and will be there with you to meet your requirements.

SKF

Bearing is not our only business.

CR

Premier (India) Bearings Limited

(India's No. 1 SKF Industrial Distributors)

25 Strand Road, 4th Floor, Calcutta 700 001, Ph- 220-1926/ 0640, Fax- 2485745, Email-pibl@vsnl.com

Branches at - Mumbai, Chennai, Bangalore, New Delhi, Chandigarh & Haldia

भँवरलाल सिंघी, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।